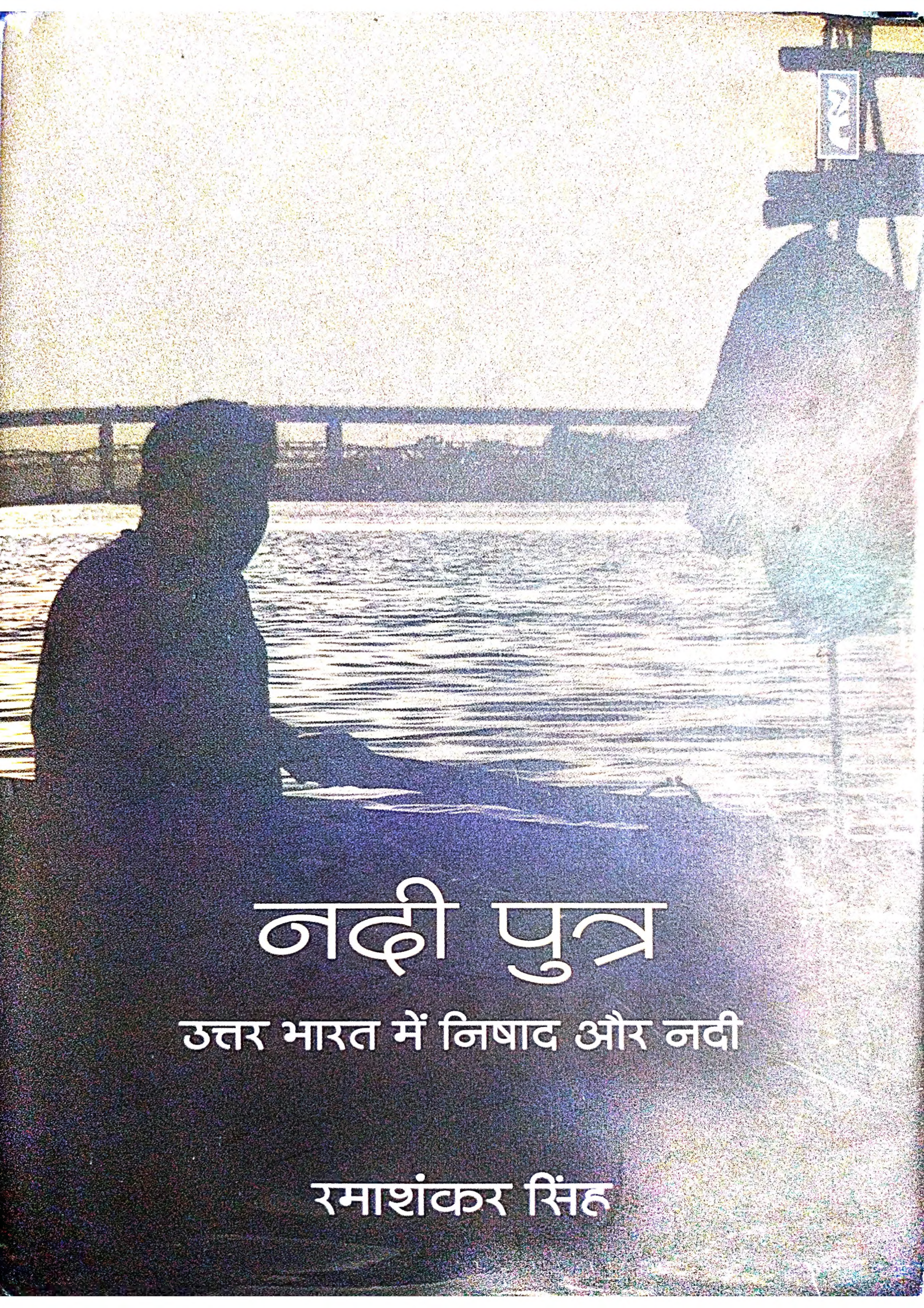


नदी पुत्र

उत्तर भारत में निषाद और नदी

रमाशंकर सिंह

डॉ. रमाशंकर सिंह ने प्रवाहपूर्ण तरीके से यह शोध लिखा है। इसमें गंगा और यमुना के किनारे रहने वाले निषादों के समाज, उनकी संस्कृति, उनके इतिहास और उनकी वर्तमान स्थिति के विषय में एक गहन शोध आधारित खाका प्रस्तुत किया गया है। यह निषाद समुदाय के बारे में गहरी समझ से परिपूर्ण है और साथ ही यह भी बताता है कि कैसे अपनी पहचान, सामाजिक स्थिति व सांस्कृतिक ताने-बाने को संरक्षित रख पाने की उनकी क्षमता में ऐसा बदलाव हुआ है जिसमें घड़ी की सुइयाँ पीछे नहीं ले जायी जा सकतीं।

रमाशंकर की लेखन शैली विशिष्ट है और उन्होंने पाठकों की सुविधा के लिहाज से इसे हिन्दी में दर्ज करने का चुनाव किया है जिससे निषाद जीवन की जटिलताएँ बेहतर तरीके से उजागर होती हैं। सांख्यकीय आँकड़ों के बोझ से दबे या राजनीतिक समझ में कमी होने के कारण इस तरह के अन्य मानवशास्त्रीय अध्ययन अपारदर्शी और निष्प्राण हो जाते हैं। रमाशंकर ने एक बहुत ही पारदर्शी और जीवन्त रचना प्रस्तुत की है।

उनका यह काम उत्तर प्रदेश के निषादों की नदी-संस्कृति के विषय में रुचि रखने वाले समाजविज्ञानियों को जरूर पढ़ना चाहिए।

—जी.एन. देवी

सांस्कृतिक कार्यकर्ता एवं साहित्यिक समालोचक

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला

नदी पुत्र

उत्तर भारत में निषाद और नदी

रमाशंकर सिंह

सेतु प्रकाशन

ISBN : 978-93-92228-18-6

प्रकाशक : सेतु प्रकाशन प्रा.लि.
सी–21, सेक्टर–65
नोएडा (उत्तर प्रदेश) 201301

शाखा : लक्ष्मी पुस्तकालय, नवीन कोठी, खुदाबक्स लाइब्रेरी के सामने, अशोक राजपथ, निकट—स्टेट बैंक चौहट्टा, पटना–800004

Web : www.setuprakashan.com
Email : setuprakashan@gmail.com

मूल्य : ₹625

प्रथम संस्करण : 2022

10 9 8 7 6 5 4 3 2 1

आवरण चित्र : तरुशिखा सर्वेश

आवरण परिकल्पना : सेतु ग्राफिक्स

मुद्रक : यश प्रिंटोग्राफिक्स
ग्रेटर नोएडा–201310 (उत्तर प्रदेश)

NADI PUTRA : Uttar Bharat Mein Nishad Aur Nadi
by Rama Shanker Singh

लाल बहादुर वर्मा
और
माता-पिता के लिए

आभार

इतने अहसान के : गिनवाऊँ तो गिनवा न सकूँ—फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की यह एक पंक्ति मेरे लिए बहुत सारे लोगों के लिए कृतज्ञता ज्ञापन का काम आसान बना देती है। वास्तव में हमारी उपलब्धियाँ हमारी अकेली कहाँ होती हैं? यह सब अध्यापकों, मित्रों, सहयोगियों, परिजनों और अनाम लोगों की सहायता की एक लम्बी शृंखला के कारण ही सम्भव हो पाती हैं। मैं उन सबके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहूँगा। सबसे पहले भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला का धन्यवाद, जिसने मुझे मार्च 2018 से मार्च 2020 के बीच यहाँ रहकर काम करने के लिए फ़ेलोशिप प्रदान की। इसके लिए मैं संस्थान की शासी परिषद् के अध्यक्ष प्रो. कपिल कपूर और निदेशक प्रो. मकरन्द परांजपे का आभारी हूँ। मैं प्रो. चमन लाल गुप्त जी का भी आभारी हूँ कि उन्होंने इसे प्रकाशित करवाने में रुचि दिखाई। भारत के बौद्धिक वातावरण में भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान की अलहदा उपस्थिति है। यह संस्थान एक उदार लेकिन तीक्ष्ण अकादमिक माहौल के लिए जाना जाता है जहाँ सीखने के हजार अवसर आपका इन्तज़ार करते रहते हैं। अपने रोजमर्रा की अकादमिक दिनचर्या के साथ यह आपको रोज सिखाता रहता है। संस्थान में स्थित नेशनल फ़ेलो, फ़ेलो, टैगोर फ़ेलो और यूजीसी एसोसिएट्स को बृहस्पतिवार का बड़ी बेसब्री से इन्तज़ार रहता है। इस दिन किसी न किसी अध्येता को

अपना प्रस्तुतीकरण देना रहता है। बृहस्पतिवार की इन्हीं संगोष्ठियों में मैंने सवाल पूछने, टिप्पणी करने, बोलने और चुप रहने की कला भी सीखी।

शिमला में मानवीय जीवन थोड़ा सा कठिन है, इसलिए आपको एक-दूसरे का हाथ गहना ही पड़ता है। इस कारण कुछ सुन्दर दोस्तियों का जन्म होता है। शिमला पहुँचने के पहले ही दिन से डॉ. अजय कुमार ने जिस तरह अपनी दोस्ती का हाथ बढ़ाया, उसने वहाँ के और बाद के जीवन को बेहतर बनाने में मदद की। शिमला में प्रो. आनन्द कुमार, प्रो. सुजाता पटेल, प्रो. हितेन्द्र पटेल, प्रो. मुंडोली नारायणन और डॉ. आदित्य प्रताप देव का भौतिक सान्निध्य और उनसे बौद्धिक आदान-प्रदान मेरे लिए किसी निधि से कम नहीं है। इन विद्वानों ने मेरे कच्चे-पक्के तर्कों को ध्यान से सुना, उसे सँवारने में मदद की। प्रो. विजया रामास्वामी, प्रो. रेखा चौधरी, प्रो. मेधा देशपाण्डे, डॉ. सुतपा दत्ता, डॉ. देबजानी हलदर, डॉ. मनीषा चौधरी, डॉ. ललिता राजा, डॉ. सुमनदीप, प्रो. अम्बिकादत्ता शर्मा, प्रो. डी. नाथ, प्रो. जगदीश लाल डावर, प्रो. आर. सी. प्रधान, प्रो. शरद देशपाण्डे, प्रो. माधव हाड़ा, प्रो. एस.के. चहल, डॉ. रत्नाकर त्रिपाठी, डॉ. आश्विन पारिजात, डॉ. विक्रम कुलकर्णी, डॉ. सतेन्द्र कुमार, श्री आशुतोष भारद्वाज, डॉ. अभिषेक यादव, डॉ. सैमसन कैमई, डॉ. बलराम शुक्ल और डॉ.आदिल के साथ संस्थान में बहुत ही अच्छा वक्त गुजरा। इन सभी व्यक्तियों ने शिमला में मेरे जीवन को कुछ न कुछ समृद्ध किया है। संस्थान के सचिव कर्नल डॉ. विजय तिवारी, पुस्तकालयाध्यक्ष श्री प्रेमचन्द और उनके सहयोगियों का धन्यवाद। प्रेमचन्द जी ने संस्थान के पुस्तकालय को बहुत ही सहेजकर रखा है। यह संस्थान का हृदय है। संस्थान की अकादमिक संसाधन अधिकारी सुश्री रितिका शर्मा एवं उनके कार्यालय की श्रीमती शारदा और श्रीमती प्रोमिला का धन्यवाद। संस्थान में काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का मैं किसी न किसी तरह से शुक्रगुज़ार हूँ। प्रो. स्मिता तिवारी-जस्सल,

मिडिल ईस्ट टेक्निकल यूनिवर्सिटी, अंकारा, प्रो. अभय दुबे और प्रो. अवधेन्द्र शरण, सीएसडीएस, नयी दिल्ली ने मेरे काम पर टिप्पणियाँ कीं, उनका आभार।

गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान, झूँसी, प्रयागराज के बिना यह विवरण अधूरा होगा। गुरुवर प्रो. बद्री नारायण के साथ एक शोध छात्र के रूप में मुझे बहुत कुछ सीखने को मिला—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों स्तर पर। उन्होंने समुदाय, स्मृति और इतिहास के अलग दिखने वाले हिस्सों को आपस में जोड़ना सिखाया, उसके एवज़ में धन्यवाद बहुत छोटा शब्द है। उनके अविरल स्नेह के लिए मैं कृतज्ञ हूँ। संस्थान में दर्शनशास्त्री डॉ. अर्चना सिंह ने मेरी हर समस्या को ध्यान से सुना, उसके व्यावहारिक उपाय सुझाये। उन्होंने संकटों और चुनौतियों में अन्तर कराना सिखाया। उनका हार्दिक आभार।

मित्र हैं तो सब कुछ है। तरुशिखा सर्वेश, श्वेता पाल, संजू सरोज, ज्योत्सना पटेल, सीमा यादव, गुंजन राजवंशी, रुक्मिणी दुबे, मधु सिंह, विकास स्वरूप, विभूत पाण्डेय, कमरुल हसन, पीयूष त्रिपाठी, अमित भूषण द्विवेदी, सतीश खरवार, जितेन्द्र सिंह, नन्द किशोर प्रजापति, धर्मेंद यादव, विनीत सिंह, तिलक यादव, मनमोहन सिंह, प्रशान्त-प्रथम से तृतीय तक, आलोक कुमार, अंकित पाठक, शिवम प्रथम एवं द्वितीय, सूरज कलहंस, रवीन्द्र वाजपेयी, प्रांजल सिंह, कुमार मंगलम, जगन्नाथ दुबे, रामानन्द मिश्र, प्रखर त्रिपाठी, शुभनीत कौशिक, कमल नयन चौबे, प्रिया सिंह और शिखा सिंह का साथ मुझे बल देता रहा है। अविनाश मिश्र और अखिलेश सिंह ने मेरी भाषा की कमजोरियों की ओर ध्यान दिलाया। अखिलेश पहले ऐसे व्यक्ति हैं जो मुझे कुछ लिखने को ठेलते रहते हैं। यदि वे जोर न डालते तो यह किताब दो वर्ष बाद आती। डॉ. लक्ष्मीकान्त पाण्डेय, मुकेश आनंद, महेश आनंद, प्रभात सिंह, अवधेश सिंह, सन्तोष सिंह, इन्द्रमणि उपाध्याय, रवींद्रकुमार शुक्ल, शेरबहादुर सिंह, सर्वेश चन्द्र श्रीवास्तव, चन्दन मिश्र, शमीम आरिफ़, अरविन्द सिंह, अवधेश मिश्र और कृष्णकान्त

ने मुझे कठिन समय में बचाये रखा। प्रेम पाठक, मृत्युंजय, अमेय त्रिपाठी, अरुण मिश्र, आभा मिश्रा, अंबरीश सिंह और देवकाली के किशन पाठक ने फ़ैज़ाबाद से लेकर इलाहाबाद तक, हर पग पर साथ निभाया। समय-समय पर मदद की, उनका आभार।

साकेत महाविद्यालय के डॉ. महेन्द्र पाठक, डॉ. अनिल कुमार सिंह, डॉ. अनुराग मिश्र, डॉ. परेश पाण्डेय, डॉ. शेफाली दीक्षित, डॉ. कविता सिंह, डॉ. उपमा वर्मा, डॉ. रमेश सिंह और डॉ. संजय सिंह का आभार। गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान, झूँसी, प्रयागराज के शानदार पुस्तकालय के बिना यह काम अधूरा ही रहता। इसके लिए श्री ब्रज भूषण मिश्र, श्री लाल बहादुर यादव, श्री शशिभूषण झा और श्री परशुराम का आभार। नन्द किशोर प्रजापति और प्रिया सिंह ने इस पाण्डुलिपि को टाइप करने में मदद की, उनका आभार। राहुल सिंह ने चन्दौली में, प्रवीण और विकास ने वाराणसी के घाटों पर और गुलमोहर ने जनवरी 2020 में इलाहाबाद में मेरे फील्डवर्क में सहायता की, उनका आभार। आभार पुष्यमित्र का जिन्होंने 'गंगा को अविरल बहने दो' जैसा अमूल्य दस्तावेज़ भेजा। उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार, लखनऊ की डॉ. रुबीना बेग, श्री जसकरन यादव और श्री सन्तोष कुमार यादव, क्षेत्रीय अभिलेखागार वाराणसी के डॉ. हरेन्द्र सिंह और क्षेत्रीय अभिलेखागार प्रयागराज के डॉ. गुलाम सरवर और श्री विनोद सोनकर का शुक्रिया। उन्होंने गंगा नदी, इलाहाबाद और माघ मेले से सम्बन्धित अभिलेखों को उपलब्ध कराने में मेरी मदद की। और सबसे ज्यादा धन्यवाद उन निषाद जनों का जिन्होंने अपने बहुमूल्य समय में से कुछ समय मेरे इस शोध के लिए निकाला। जब वे नदी में नाव चला रहे होते तो उस समय बात करना आसान होता लेकिन जब वे मछली मार रहे होते या बालू निकालने के काम में व्यस्त होते तो उनसे बात करने में एक झिझक होती। वे मेरी इस झिझक को समझ जाते और सहर्ष बात करने को तैयार होते। सन्दीप निषाद, हरिश्चन्द्र बिन्द, राजन मन्त्री, धर्मराज

निषाद, विश्वनाथ निषाद और लौटनराम निषाद का विशेष आभार। गोविन्द निषाद शोधछात्र हैं और उनके पास निषाद जीवन के प्राथमिक अनुभव और उसे विश्लेषित करने की क्षमता है, उनके बेहतर भविष्य के लिए शुभकामनाएँ।

खुशबू, अनघ और अनूप मेरी व्यक्तिगत एवं पारिवारिक दुनिया का विस्तार हैं, उनके साथ ही सब कुछ सम्भव हो पाता है। मैं चाहता हूँ कि अनघ और उनकी पीढ़ी गंगा सहित भारत की सभी नदियों को स्वच्छ और अविरल बहता देख सकें और वे यह भी देख सकें कि नदियों के किनारे बसे समुदायों की ज़िन्दगी बेहतर हुई है। मेरी दोनों बहनों—उमा और सीमा, दयाशंकर-रेनू, भैया-भाभी और परिजनों ने मेरे ऊपर हमेशा विश्वास किया, उसके बदले में उन लोगों को भला क्या दें ? सिवाय एक आन्तरिक कृतज्ञता के। 2020 के कोविड संकट के दौरान लगभग छह महीने तक मैं चन्दौली जिले में रहा, इसके लिए मैं अपने ससुर श्री सुरेन्द्र प्रताप सिंह का आभार व्यक्त करता हूँ। उन्होंने मेरे पढ़ने-लिखने के लिए प्रत्येक सुविधा का खयाल रखा। इस किताब को प्रकाशित रूप में यदि मेरे माता-पिता देखते तो वे बहुत खुश होते क्योंकि यह किताब उनकी एक बहुत ही प्रिय जगह इलाहाबाद के संगम के बारे में भी है। सेतु प्रकाशन की अमिता पाण्डेय और अमिताभ राय ने जितनी तत्परता से इस किताब पर काम किया, वह प्रशंसनीय है। इस किताब की जो भी कमियाँ आप लक्षित करेंगे, वह सब मेरी हैं।

—रमाशंकर सिंह

कानपुर

14 फरवरी 2022

प्राक्कथन

हम सब नदियों के साथ जीते हैं। मेरी स्नातक और परास्नातक की शिक्षा अयोध्या में हुई, सरयू नदी के किनारे। मैंने उस नदी को अलग-अलग ऋतुओं में, कई-कई रूपों में देखा है लेकिन इससे पहले, वह मेरे घर से लगभग आठ किलोमीटर दक्षिण में गोण्डा जिले में बहती है। माघ महीने में वहाँ के मेलों में जाने की एक धुँधली सी स्मृति है। इसके बाद जब मैं साइकिल चलाने लायक हुआ तो अपने बाबा को कई बार सरयू स्नान करवाने ले गया हूँ। उनके साथ इलाके के कई अन्य लोग भी सरयू स्नान करने जाते थे, साइकिल से, सवारियों से और कभी-कभी पैदल भी। बिना किसी तामझाम के वे सरयू नदी में स्नान करते, बहुत ही मामूली सा दान-पुण्य करते, कभी-कभी नहीं भी करते, आपस में एक-दूसरे का हालचाल पूछते और वापस अपने घरों को चले आते। नदी उनके जीवन में बड़े ही सामान्य तरीके से शामिल थी। वे सभी लोग भारत की उस सामान्य जनता के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं जहाँ पर नदी में स्नान करना इतनी ही साधारण बात है जैसे भोजन करना। फिर भी यह साधारणता बहुत कुछ कहती है। नदियों में स्नान करना, उसे पूजना और उसे अपने जीवन में बनाये रखना उन आदिम संस्कृतियों की निरन्तरता है जिनका उत्तराधिकारी होने का हम जब-तब दावा करते रहते हैं। नदियाँ हमारी संस्कृतियों की प्राथमिक पाठ हैं।

नदियों के किनारे बस जाने और उनसे जीवन चलाने की बात इतनी पुरानी है जितनी पृथ्वी पर मनुष्यों की विभिन्न संस्कृतियों के पनपने की बात। इतिहास की एक सामान्य पाठक इस बात से सहमति जताएगी कि भारत की विभिन्न संस्कृतियों के लिखित और मौखिक साक्ष्यों में नदियों की एक गहन उपस्थिति रही है। यहाँ तक कि ऐसे भौगोलिक दायरों में जहाँ कोई वास्तविक नदी नहीं होती है वहाँ के लोग अपने कल्पनालोक में एक नदी का सृजन कर लेते हैं और जो बहुत दूर के अतीत में सूख चुकी होती है, वे उसे गाहे-बगाहे लोकगीतों, कहावतों या आपसी बातचीत में जीवित करते रहते हैं। राजस्थान के उदयपुर के इलाके में गाँवों से बाहर एक स्तम्भ गाड़ा जाता है जो गंगा नदी में स्नान करने जाने की स्मृति में स्थापित होता है। इसे पथवारी कहते हैं। अभी हाल ही तक यह स्तम्भ उन लोगों को सम्मान देने के लिए स्थापित किया जाता था जो गंगा नदी में स्नान करने जाते थे।[1] हम सब जानते हैं कि राजस्थान में गंगा नदी नहीं बहती है लेकिन यह तथ्य इंगित करता है कि भारत में एक सांस्कृतिक कल्पना के रूप में गंगा नदी उन दायरों में उपस्थित थी जहाँ वह भौगोलिक इकाई के रूप में नहीं थी। इसी प्रकार गंगा नदी न तो कर्नाटक में बहती है और न ही वह आन्ध्र प्रदेश में, लेकिन वह इस क्षेत्र के लोगों की सांस्कृतिक कल्पना में मौजूद रहती है। इससे थोड़ा आगे सोचें तो हम पाएँगे कि नदी का महत्त्व इससे अधिक उनके लिए रहा है जो नदियों के किनारे सदियों से बसे हैं और जिनका जीवन इन्हीं पर आधारित है। मछुआरे, शिकारी, घुमन्तू, पशुपालक, धोबी, पुजारी, ग्रामवासी और शहरी जन नदी से जीवन पाते हैं और उनकी नदी से अलग-अलग धरातल पर संलग्नता रहती है। नये इलाकों की तलाश में आक्रमणकारी, राजा, संगीतज्ञ, घुमन्तू, संन्यासी और प्रजा नदी पार करते रहे हैं। इन सबका जीवन नदियाँ अलग-अलग तरीके से रचती रहती हैं।

मैं अपने अनुभव, ज्ञान और समझ की वर्तमान अवस्था में इन

सभी समुदायों पर बहुत कुछ लिखने की हैसियत में नहीं हूँ इसलिए मैंने केवल नदियों के किनारे बसे निषाद समुदाय पर ध्यान केन्द्रित करने का निश्चय किया है। उसमें भी नदी के एक हिस्से की कहानी आ पायी होगी। किसी के लिए भी कोई बात पूरी-पूरी कह पाना सम्भव नहीं होता, मेरे लिए भी ऐसा ही है। इस किताब के तीन हिस्से किये जा सकते हैं : पहला हिस्सा इस बात का परिचय देता है कि भारत के सामाजिक इतिहास की आरम्भिक शताब्दियों से लेकर अब तक निषाद समुदाय का जीवन किस प्रकार का रहा है। एक समुदाय के रूप में उनका उदय कैसे हुआ है और उनका जीवन नदी से कैसे नाभि-नालबद्ध रहा है। इसके दूसरे हिस्से में गंगा नदी का एक सामान्य परिचय देते हुए यह बताने का प्रयास किया गया है कि इतिहास निर्माण में किसी नदी की क्या सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका हो सकती है। इसके बाद यह पड़ताल की गयी है कि एक जीवित सांस्कृतिक पारिस्थितिकी के रूप में नदी मनुष्यों के एक समुदाय के जीवन, संस्कृति, अर्थव्यवस्था और राजनीति को किस प्रकार सिरजती है। नदी से निषाद समुदाय का यह रिश्ता समकालीन भारत में कैसा है और उसके नवीनीकरण के लिए यह समुदाय क्या करता है, इसे भी जानने की कोशिश की गयी है। इस प्रकार यह किताब भारत में हाशियाकृत निषाद समुदाय और नदियों के बीच के सहजीवी सम्बन्ध की पड़ताल करने का एक प्रयास है।

इस किताब की सन्दर्भ सामग्री तीन प्रकार की है : पाठ (टेक्स्ट), अभिलेखागार और क्षेत्र कार्य (फ़ील्ड वर्क)। इस किताब में संस्कृत, पाली-प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषा के पाठों का गहन विश्लेषण किया गया है। औपनिवेशिक शासन की नीतियों को समझने के लिए अभिलेखागार आधारित सामग्री की मदद ली गयी है। इस प्रकार के पूर्ववर्ती अध्ययनों में इस सामग्री का उपयोग अभी तक नहीं किया गया था, विशेषकर लखनऊ और इलाहाबाद के अभिलेखागारों की सामग्री को। अध्ययन को समकालीन, समाज-सापेक्ष एवं जनोपयोगी

बनाने के लिए वर्तमान इलाहाबाद (वर्ष 2018 में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा नाम परिवर्तन के बाद प्रयागराज), वाराणसी, चन्दौली और कानपुर जिलों में एक एथ्नोग्राफ़िक क्षेत्र कार्य भी किया गया है। इसमें निषाद स्त्री-पुरुषों के साथ कई-कई बार की बैठकी में बात की गयी है। किसी एक व्यक्ति से बात का एक सिरा जहाँ छूट गया होगा, वहाँ दूसरे व्यक्ति ने उसे जोड़ दिया है। इसलिए निषाद समुदाय के किसी एक व्यक्ति की बात केवल उसी की बात न बनकर उसके समुदाय के अन्य लोगों की बात भी बन जाती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक जिले में 'फोकस्ड ग्रुप डिस्कसन' के माध्यम से उनकी सामूहिक समझ को भी इस किताब में परिलक्षित करने का प्रयास किया गया है।

यह किताब प्राकृतिक संसाधनों, समुदायों और राज्य के बीच पनपने वाले तिहरे सम्बन्धों की पड़ताल करती है। यह किताब उन परिवर्तनों के बारे में भी है जो उत्तर भारत में, विशेषकर गंगा और यमुना नदियों के किनारे बसे निषादों के जीवन में पिछली एक शताब्दी से घटित हो रहे हैं। यह परिवर्तन राज्य, समाज और बाज़ार अर्थव्यवस्था के त्रिकोण के बीच आकार ले रहे हैं। इस प्रसंग में यह सवाल महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि यह देखा जाए कि पूर्व औपनिवेशिक भारत में जातियों और प्राकृतिक संसाधनों के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध विकसित हुए थे? नदियों ने निषादों के जीवन और उनकी जीविका निर्माण में क्या भूमिका निभायी? इस किताब में यह बताने का भी प्रयास किया गया है कि इस प्रकार के शोधों का सामाजिक मूल्य क्या है और उससे मनुष्यों, विशेषकर हाशियाई समाजों से सम्बन्ध रखने वाले लोगों का जीवन कैसे बदल सकता है?

प्रस्तुत काम में एक आन्तरिक संगति लाने के लिए अध्यायों की योजना इस प्रकार बनायी गयी है कि पाठक को इस बात की सुविधा रहे कि वह न केवल प्रत्येक अध्याय को एक-दूसरे से जोड़कर पढ़ सके बल्कि किसी भी अध्याय को एक स्वतन्त्र ईकाई के रूप में भी पढ़ते हुए अपनी राय बना सके। प्रस्तुत किताब भारतीय उच्च अध्ययन

संस्थान, शिमला में 'प्राकृतिक संसाधन एवं हाशिये के समुदाय : पूर्व औपनिवेशिक भारत में नदियों और निषादों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक सहजीवन' शीर्षक शोध परियोजना पर आधारित है। इसे वहाँ पर उपस्थित विद्वानों और पूर्व समीक्षकों की सलाह पर 'पूर्व औपनिवेशिक' की कालावधि से निकालकर समकालीन भारत तक लाया गया है जिससे 'अतीत और वर्तमान के बीच एक संवाद' की गुंजाइश तलाशी जा सके। इसलिए इस किताब में सन् 2010 से 2020 के बीच किये गये फ़ील्ड वर्क को भी शामिल किया गया है जिसमें 2010 से 2015 के बीच मैं पी-एच.डी कर रहा था, उसके बाद तीन वर्षों का एक स्वतन्त्र अन्तराल है इस दौरान मैं इस सवाल पर लगातार सोचता रहा। 2018 से 2020 की शिमला की शीतकालीन छुट्टियों में गंगा और यमुना नदी के किनारे बसे लोगों से एक बार फिर बात की गयी। इसलिए एक दशक का फ़ील्डवर्क इस किताब को उन जगहों पर सहायता देने की कोशिश करता है जहाँ वह केवल पाठों और अभिलेखागार की सामग्री पर आधारित होने से कमजोर पड़ जाती या उसमें 'मानवीय अनुभव' की अनुपस्थिति होती।

सन्दर्भ

1. भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के अध्येता माधव हाड़ा से प्राप्त जानकारी।

क्रम

प्राकृतिक संसाधन एवं हाशिये के समुदाय : पूर्व औपनिवेशिक भारत में नदियों और निषादों का सामाजिक-सांस्कृतिक सहजीवन

दुनिया के इतिहास में पिछली दो शताब्दियाँ पर्वतों की चोटियों और समुद्रों की अतल गहराइयों में मनुष्य की उपस्थिति को दर्ज़ करने की शताब्दियाँ रही हैं। इन शताब्दियों में नदियों पर बाँध और पुल बनाये गये, उनकी धारा में पानी के जहाज और स्टीमर चलाये गये। आधुनिक विज्ञान और तकनीक ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की कोशिश की और इसे 'मानवता के हित में' घोषित किया गया। पृथ्वी पर उपस्थित प्रत्येक प्रकार के भूदृश्य की इंजीनियरिंग की गयी, तकनीक और विज्ञान ने नदियों को पाबन्द किया। इससे नया समाज बना, नया मनुष्य बना। आधुनिकता, राष्ट्र, व्यक्ति और समुदाय की श्रेणियों पर विचार शुरू हुआ। इसने इतिहास को एक विषय के रूप में स्थापित किया और उसकी चिन्ता के केन्द्र में मनुष्य आया। यह ज्यादा समय तक न चला और लगभग दो शताब्दियों के अन्दर ही मनुष्य के साथ तालाब, झील, नदी, समुद्र, बर्फ की चोटियों और हिमनदों, यानी जल के सभी सम्भव रूपों पर अकादमिक बहसें आरम्भ हो गयीं। पर्वतों, हिमनदों, समुद्र तटों, झीलों और नदियों के इतिहास, उनके बहाव, स्वास्थ्य एवं उनसे सम्बद्ध पारिस्थितिक तन्त्र की सामाजिक-सांस्कृतिक पड़ताल की जाने लगी। वर्तमान समय में भूगर्भीय इतिहास

से लेकर समकालीन राजनीतिक समझ, मनुष्य के भविष्य के साथ नदियों के सम्बन्ध को विश्लेषित करने का प्रयास किया जा रहा है। इतिहासकारों ने इधर के दशकों में जलवायु परिवर्तन का मानवीय इतिहासों पर पड़ने वाले प्रभावों की जाँच-पड़ताल आरम्भ की है।

जैसा आशीष नन्दी ने कहा है कि इतिहासकार इतिहासकारों का ऐतिहासीकरण करते हैं लेकिन इतिहास का नहीं करते हैं।[1] उनके इस कथन को ध्यान से पढ़ने की आवश्यकता है। वास्तव में इतिहास लेखन और उसका मूल्यांकन साथ में चलने वाली प्रक्रिया है और दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। इतिहास लेखन अपने समय से कटकर तो रह नहीं सकता है, अतीत अपने वर्तमान में कई-कई रूपों में पुनर्जीवित होता रहता है, इतिहास लेखन उनमें से एक है। उसके लिए किसी राजमर्मज्ञ का जीवन जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही मोची का। जितना मनुष्य महत्त्वपूर्ण है, उतना ही उसके जीवन को रूप देने वाले कारक, मसलन चट्टान, समुद्र या कोई जानवर। इन सबके इतिहास से मनुष्य का इतिहास बनता है। इसे फ्रेंच इतिहासकारों की उन कोशिशों से समझा जा सकता है जब उन्होंने प्राकृतिक भूदृश्यों से लेकर लम्बी अवधि के इतिहास में उन परिवर्तनों एवं निर्मितियों को लक्षित करना आरम्भ किया जिससे मनुष्यों की नियति बदलती रहती है। उन्होंने दिखाया कि समुद्र, चट्टानें और पहाड़ मनुष्य के वर्तमान और भविष्य क़ो बदलने की क्षमता रखते हैं। इसी तरह सूखा, बाढ़, जंगल की आग या अन्य जलवायुगत परिवर्तन मनुष्यों के विभिन्न समुदायों को दिशा निर्धारित करते रहे हैं। इस प्रकार 'परिवर्तनों का इतिहास लेखन' एक नये दौर में प्रवेश कर जाता है जिसमें ज्ञान के अनुशासनों की विभिन्न प्रविधियाँ एक-दूसरे से अनुक्रिया करने लगती हैं। इसके फलस्वरूप 'इतिहासों की नवीन शृंखला' सामने आ जाती है। यहाँ पर इतिहास को बहुवचन के रूप में प्रयुक्त किया जाना चाहिए। वास्तव में किसी भी देश या संस्कृति के इतिहास को एकवचन में प्रयुक्त करने के अपने खतरे होते हैं। एक ही समय

और दायरे में स्थित दो अलग समुदायों या संस्कृतियों के इतिहास एक-दूसरे से भिन्न हो सकते हैं। इस प्रकार इतिहास एक ही समय और दायरे में भिन्न-भिन्न आवाज़ों को दर्ज करने का माध्यम भी बन जाता है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि किसी इतिहासकार की प्रविधि क्या है और स्रोतों के साथ उसका बर्ताव कैसा है।

प्राकृतिक भूदृश्य मनुष्य के इतिहास को रूप देते रहे हैं, इस धारणा के साथ अब इस पर भी विचार किया जा रहा है प्रकृति के साथ मनुष्य का व्यवहार कैसा रहा है और उसने इस दिशा में कैसा और कितना हस्तक्षेप किया है। पिछले एक दशक से 'एन्थ्रोपोसीन' का विचार समाज विज्ञान में दस्तक दे रहा है जहाँ उसे समय की पड़ताल करने वाला एक महत्त्वपूर्ण औजार माना जा रहा है। इसमें माना जा रहा है कि एक ग्रह के रूप में पृथ्वी का जो रूपान्तरण हुआ है, उसमें एन्थ्रोपोसीन की परिणामदायी भूमिका रही है। एन्थ्रोपोसीन की अवधारणा मनुष्यों एवं प्रकृति के बीच की विभाजन रेखा के स्थायी ध्वंस को दर्शाती है। इस नये युग में प्राकृतिक वातावरण का कोई मतलब नहीं रह जाता है क्योंकि धरती पर सजीव या निर्जीव, ऐसा कुछ नहीं बचा जिसके साथ मनुष्यों ने छेड़छाड़ न की हो।[2] इसे छेड़छाड़ कहें अथवा हस्तक्षेप, इसने हमारे इतिहास को सृजित किया है, उसे लगातार बदला है। इसके कारण, जैसा दीपेश चक्रवर्ती ने स्पष्ट किया है कि अब हम एक 'अन्तरसम्बद्ध इतिहास (कंज्वाइण्ड हिस्ट्री)' की ओर बढ़ रहे हैं जिसमें पृथ्वी, जीवन और औद्योगिक सभ्यता पर विचार किया जाना है। इस तरह के इतिहास लेखन में एक ग्रह के रूप में पृथ्वी पर मनुष्य के अतीत, वर्तमान और भविष्य पर विचार किया जा रहा है।[3] ऐसा माना जा रहा है कि 'एन्थ्रोपोसीन' युग की अवधारणा विज्ञान ही नहीं समाज-विज्ञान समेत ज्ञान के सभी क्षेत्रों पर दूरगामी प्रभाव डालेगी।[4] वास्तव में एक विषय के रूप में इतिहास के अन्दर 'एन्थ्रोपोसीन' की धारणा प्राकृतिक इतिहास और मानव इतिहास के बीच के अन्तर को विलीन कर देने की क्षमता

रखती है। जैसा हम आगे देखेंगे कि फ़र्नांद ब्रादेल और उनके साथियों ने मानवीय इतिहास को पर्वतों, चट्टानों और समुद्रों के सन्दर्भ में व्याख्यायित करने का प्रयास किया। ब्रादेल ने तो इतिहास के निर्माण में मनुष्य की चालक शक्ति को न के बराबर आँका था।[5] वास्तव में अब पृथ्वी पर परिवर्तन लाने वाली एक भूवैज्ञानिक शक्ति के रूप में मनुष्य की भूमिका की गहन पड़ताल की जा रही है जहाँ समुदाय और राज्य के नियामक के रूप में भी वह उपस्थित है। वह एक ही समय में उत्पीड़क और उत्पीड़ित दोनों है। वह प्रकृति को विरूपित कर रहा है और साथ ही उसका जीवन संकट में है।

वर्तमान में जल के इतिहास के साथ मनुष्य के इतिहास के विविध पक्ष लिखे जा रहे हैं। यह दोनों एक–दूसरे से अविभाज्य हैं। यह ज्ञान के साथ एक विषय के रूप में इतिहास विषय का विस्तार–काल भी है। इस प्रकार जल ने इतिहास का दायरा बढ़ा दिया है, वह नदी के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गया है। मानव विज्ञान के क्षेत्र में काम करने वाले विद्वानों ने उन्नीसवीं सदी में ही इस बात पर जोर देना आरम्भ कर दिया था कि प्रकृति मनुष्यों के जीवन बोध को रूप देती है। आर्कटिक क्षेत्र में नार्थ वाटर कहे जाने वाले भौगोलिक इलाके से सम्बन्धित अपने काम में क्रिस्टेन हास्ट्रप ने दिखाया है कि इस क्षेत्र के शिकारियों और मछुआरों के जीवन, मूल्यबोध और संस्कृति को हिमखण्ड और जल प्रभावित करता रहा है। हिमखण्ड का निश्चित परिवेश उस इलाके में रहने वाले शिकारी समुदायों के जीवन को रचता है और हिम का पिघलकर जल में बदल जाना उनके जीवन को एक बार फिर से बदल देता है।[6] इस क्षेत्र में हिमखण्ड की उपस्थिति में कोई परिवर्तन वास्तव में उनके जीवन में हुए किसी परिवर्तन को परिलक्षित करने लगता है। इस प्रकार हिमखण्ड और उसके पिघलने का अध्ययन वहाँ रहने वाले समुदायों का अध्ययन बन जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में सांस्कृतिक मानव विज्ञान (कल्चरल एन्थ्रोपॉलोजी) के जनक माने जाने वाले फ्रांज बोअस ने इस बात को

1881 में ही रेखांकित करने का प्रयास किया था कि जल अपने इर्द-गिर्द की सामाजिक संरचनाओं को लगातार निर्मित करता रहता है? यह बात पर्वत, पहाड़ों, समुद्र तटों और रेगिस्तानी क्षेत्रों में रहने वाले समुदायों के लिए भी कही जा सकती है। हाँ, यह बात जरूर है कि इन समुदायों का भौगोलिक और सांस्कृतिक सन्दर्भ, धार्मिक विचार, राजनीतिक संरचनाएँ और आर्थिक प्राथमिकताएँ भिन्न होंगी।

उत्तर भारत में रहने वाले निषादों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भ आर्कटिक क्षेत्रों में रहने वाले समुदायों से भिन्न है लेकिन उनकी नदी के जल पर निर्भरता ही नदी से उन्हें भौगोलिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक और अन्ततः राजनीतिक रूप से संलग्न कर देती है। इस पृष्ठभूमि में निषादों के जीवन सन्दर्भ में नदी की भूमिका की पड़ताल आवश्यक हो जाती है। नदी के जल ने उनके जीवन, विचार-विश्वास और भविष्य को आरम्भिक शताब्दियों से ही परिवर्तित करना आरम्भ कर दिया था। चूँकि भारत पश्चिम नहीं है और उसके सामाजिक संगठन और प्रकार्य में जाति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, इसलिए जाति की भूमिका पर भी गहनता से विचार किये जाने की आवश्यकता तो है ही, उस प्राकृतिक भूदृश्य को भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता है, जहाँ जाति व्यावहारिक रूप से अस्तित्व में आती है एवं समाज की संरचना में अपनी भूमिका अदा करती है। वास्तव में जाति और प्राकृतिक भूदृश्य आपस में अन्तर्क्रिया करते हैं जिनमें राज्य की सत्ता और समुदायों के आपसी सम्बन्ध उनकी दिशा निर्धारित करते हैं। भारत के सामाजिक इतिहास, विशेषकर आरम्भिक भारत के सामाजिक इतिहास को लिखते समय इस पक्ष पर ध्यान देने की आवश्यकता है। इस किताब में इस पर विशेष ध्यान दिया गया है कि भारतीय समाज में जाति की गतिकी को समझते समय प्राकृतिक संसाधनों से उनके सम्बन्ध, जुड़ाव और सामाजिक-आर्थिक अनुक्रिया को समझा जाए। ऐसा करते समय नदी को एक ऐसे दायरे (स्पेस) के रूप में देखा गया है जहाँ उपर्युक्त विकास अस्तित्व में

आते हैं। इस प्रकार यह अध्ययन नदी और मनुष्य के आपसी सम्बन्ध का इतिहास भी है। नदी मनुष्य के इतिहास को जानने-समझने के लिए एक 'टेक्स्ट' के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

वास्तव में पूर्व औपनिवेशिक भारत के सामाजिक इतिहास लेखन में चातुर्वर्ण व्यवस्था को समझने का एक पूर्व निर्धारित ढाँचा बन गया है जिसकी व्याख्या के लिए उच्चताक्रम, द्विज होने के लिए समावर्तन संस्कार, विवाह, पेशे और अस्पृश्यता प्रमुख कारक बनकर उभरते हैं। इन श्रेणियों के आधार पर वर्ण और जाति व्यवस्था की व्याख्या करना सरल हो जाता है। गैर-द्विज जातियों को शूद्र वर्ण और मौर्योत्तर काल के बाद पंचम वर्ण के एक और समायोजन में समाहित कर दिया जाता है। इस प्रकार आरम्भिक भारत के समाज के इतिहास लेखन में एक विशिष्ट सरलता हमें यह समझने के लिए प्रेरित नहीं कर पाती है कि लोगों के जीवन के आर्थिक आधार क्या थे और वे जाति की संरचना से कैसे जुड़े थे? जाति की व्याख्या करते समय इसमें अधिक से अधिक, जीवन के भौतिक पक्ष के रूप में खेती योग्य जमीन का मामला जुड़ जाता है और यह बताया जाता है कि किस प्रकार जमीन और राज्य के बीच राज्य का एक नियन्त्रणकारी सम्बन्ध था और जमीन पर उच्च वर्गों के क़ब्ज़े को बनाये रखने के लिए राज्य की उत्पत्ति हुई। आरम्भिक भारत में राज्य की उत्पत्ति के अनुबन्ध सिद्धान्त ने इस विचार को पुष्टि प्रदान की।[8]

तो, इस प्रकार वनों की भूमिका पर उत्तर वैदिक काल के बाद विचार नहीं होता है[9] और यह मान लिया जाता है कि इसके बाद कृषि के विस्तार, पशुपालन, द्वितीय नगरीकरण के दौर में जाति व्यवस्था मज़बूत हुई। ऐसा मान लेने के बाद इतिहासकारों का काम आसान हो जाता है। इसी क्रम वे जैन और बौद्ध धर्म के उदय और उसके सामाजिक-नैतिक आधार की व्याख्या भी करने में सक्षम हो जाते हैं।[10] कभी दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी ने माना था कि उत्पादन के साधनों और सम्बन्धों में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों का कालक्रम

से प्रस्तुत गया विवरण ही इतिहास है।[11] इस परिवर्तन को पूरा तब तक नहीं माना जा सकता है जब तक कि इसमें नदियों को उत्पादन के एक दायरे के रूप में शामिल न किया जाए। देखा यह गया है कि आरम्भिक भारत के इतिहास से सम्बन्धित शोध ग्रन्थों से लेकर पाठ्य पुस्तकों में कृषि के विस्तार, नयी सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं के उदय और मज़बूत राज्य के निर्माण में लोहे की भूमिका पर विचार किया जाता है।[12] इस व्याख्या में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के साथ कृषि योग्य जमीन के विकास की बात की जाती है जिसे जंगलों को काटकर और मैदानों को साफ़ कर निकाला गया। इसमें कमी यह रह जाती है कि ऐसा करते समय समाज और जाति की संरचना में नदी की भूमिका पर लगभग न के बराबर विचार हो पाता है। इस प्रकार के इतिहास लेखन में यह विश्लेषित करने की कोशिश नहीं हो पाती है कि सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं के निर्माण में नदी भी कोई प्रभावकारी भूमिका अदा कर सकती है। वह भी एक सक्रिय सामाजिक दायरे (सोशल स्पेस) के रूप में समाज और राज्य से अन्तर्क्रिया कर सकती है जिस प्रकार खेती योग्य जमीन करती रही है। जिस तरह से किसी गाँव की बसावट, उस बसावट में समाज के विभिन्न वर्गों की अवस्थिति एक उच्चताक्रम को जन्म देती है, उसी प्रकार नदी का दायरा भी उच्चताक्रम को भंग करने, परिवर्तित करने और पुनरुत्पादित करने का काम कर सकता है। नदी धर्म, राज्य और समाज को उसी प्रकार से प्रभावित कर सकती है जिस प्रकार से भूमि और वन करते हैं।

यहाँ यह भी कहना जरूरी है कि इधर हाल ही के दशकों में नदियों की सामाजिकी पर जो शोध कार्य हुए भी हैं, वे आधुनिक समय में उसकी उपयोगिता, नदियों पर बाँध निर्माण, आधुनिक राष्ट्र राज्य की संरचना के अन्दर विकास की परियोजनाओं और नदी-घाटी बेसिन के विकास से जुड़े रहे हैं। नदियों पर बाँध बनाने से उपजे विस्थापनों ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि नदी और समुदाय का

रोजमर्रा एवं दीर्घकालीन रिश्ता अविभाज्य है लेकिन यह अध्ययन अपनी प्रकृति में बहुत ही तात्कालिक हैं और उनकी चिन्ता के केन्द्र में आधुनिक राज्य निर्देशित विकास से उपजी हिंसा और बेदखली है।[13] इन अध्ययनों की चिन्ता का केन्द्र बिन्दु भारत की बीसवीं शताब्दी है जिसमें हुए वैज्ञानिक और तकनीकी विकास ने नदियों के बहाव को अविरल नहीं रहने दिया और वे धीरे-धीरे दुनिया की सबसे प्रदूषित जल-निकायों में बदल गयीं।[14] इस प्रकार से नदी और समुदाय के उस सहजीवी सम्बन्ध पर कोई बहस आगे न बढ़ सकी जो इस बात की ऐतिहासिक और समकालीन समय में पड़ताल करती कि कोई समुदाय प्राकृतिक भू-दृश्य से किस प्रकार अपने आप को जोड़ता है एवं भू-दृश्य स्वयं किसी समुदाय विशेष को दैनिक और ऐतिहासिक रूप से कैसे रचता है। पूर्व औपनिवेशिक भारत के लिए तो इस विषय को उपेक्षित ही कर दिया गया है। इस किताब में नदी की इसी इतिहास निर्माण की भूमिका का विश्लेषण किया गया है।

सबसे पहले इतिहास में नदी के बारे में। आधुनिक भारत में जो इतिहास लेखन हुआ, विशेषकर यूरोपीय जनों के भारत में आगमन के बाद, वह सभ्यता की तलाश में हुआ इतिहास लेखन है जिसमें एक तरफ सभ्यता के रूप में भारत को तिरस्कृत करने की कोशिश हुई तो दूसरी तरफ, प्रत्युत्तर में उसे विकसित सभ्यताओं के देश रूप में स्थापित करने की कोशिश की गयी। एक देश के रूप में भारत की सुगठित भौगोलिक और सांकृतिक काया की तलाश शुरू हुई। इसने भारतीय इतिहासकारों को उसके भू-दृश्य पर सोचने को प्रेरित किया और एक ऐसा इतिहास लेखन सामने आने लगा जिसमें इस बात का अवश्य ही उल्लेख होता कि भारत की नियति को उसके भूगोल ने निर्धारित किया है। ब्रिटिश उपनिवेश से भारत की आज़ादी की लड़ाई

ने इस पर लगातार दवाब बनाये रखा। इस दौर में, विशेषकर 1890 से लेकर 1960 तक हुए इतिहास लेखन में दो प्रमुख लक्षण देखे जा सकते हैं। एक तो यह भारत की सभ्यतागत एकता की तलाश थी ही, दूसरा उसने औपनिवेशिक इतिहास लेखन की उस प्रवृत्ति को किनारे करने का प्रयास किया जो भारत के अतीत की उपलब्धियों को मान्यता नहीं देती थी।[15] वैदिक और सिन्धु सभ्यता पर हुआ इतिहास लेखन इसका प्रमाण है।

इन कामों ने नदी को एक भौगोलिक सीमा-रेखा निर्माण करने वाली निर्मिति, अनाजों के लिए उपजाऊ प्रदेश तैयार करने वाली भौमिक संरचना और सबसे बढ़कर परिवहन के साधन के रूप से निकालकर एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में स्थापित कर दिया। फिर भी, इस लेखन में नदी का अध्ययन एक स्वतन्त्र स्पेस या दायरे के रूप में नहीं किया गया। यदि किया गया भी तो उसे दो कोटियों में बाँटकर किया गया : एक तो वाटर-बॉडी यानी जल-निकाय के रूप में और दूसरी कोटि में नदी को कर्मकाण्डीय तरीके से देखा गया। नदी को एक ऐसे स्पेस या दायरे के रूप में देखा गया जहाँ लोग स्नान करने, मुक्ति पाने, अन्तिम संस्कार या अपनी उगायी हुई फसल को प्रतीकात्मक रूप से नदी को चढ़ावे के रूप में अर्पित करने जाते थे। नील नदी के जल, उसकी मिस्त्र के प्राचीन समाज में महत्ता पर तेर्जे ओस्तिगार्द ने व्यापक परिप्रेक्ष्य में विचार किया है। उनकी किताब का शीर्षक है : द रिलीजियस नाइल : वाटर, रिचुअल एण्ड सोसाइटी सिंस एंसियेण्ट इजिप्ट।[16] यह किताब मिस्त्र के आरम्भिक समाज और संस्कृति में नील नदी की उपस्थिति को रेखांकित करती है कि कैसे इसने राज्य, धर्म और समाज के बीच एक कड़ी का काम किया है। यह मनुष्यों के जीवन में जल की भूमिका पर अलग से विचार करती है लेकिन जैसे-जैसे किताब आधुनिक समय की ओर आती है, इसमें मनुष्य पर जोर कम होता जाता है और नदी पर जोर ज्यादा हो जाता है। फिर भी यह किताब इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि

यह नील नदी का सांस्कृतिक इतिहास है। इधर हाल ही में ब्रह्मपुत्र के इतिहास पर इतिहासकारों, राजनीति विज्ञानियों और मानव विज्ञानियों ने पर्याप्त रुचि दिखाई है।[17] अरूपज्योति सैकिया कहते हैं कि ब्रह्मपुत्र की पहचान मानवीय और प्राकृतिक क्रियाओं से अलग नहीं की जा सकती है। ब्रह्मपुत्र की जीवनी लिखते समय उन्होंने रिचर्ड व्हाइट के हवाले से इस नदी को 'ऑर्गेनिक मशीन' कहा है जिसके अंग, पंख और शिराएँ हैं।[18] नदियों की यह जीवनी उसी स्थिति में सम्भव है जब नदी को एक जीवन्त संरचना मानकर ही आगे बढ़ा जाए, एक ऐसी संरचना जो मनुष्यों के विभिन्न समुदायों से ऐतिहासिक अन्तर्क्रिया करती है। उसे मनुष्य जितना ही इतिहास में महत्त्व दिया जाए। दुखद यह है कि इस अध्ययन के अन्त में आपको पता चलेगा कि गंगा नदी को अब एक 'वाटर मशीन' में बदला जा चुका है जिस पर तकनीक और राज्य का नियन्त्रण है।

किसी नदी के बारे में सोचते समय मनुष्य के बारे में जरूर सोचा जा सकता है। मेरी जगह पर यदि फ़र्नांद ब्रोदेल होते तो वे शायद कहते कि आप नदी को देखिए या थोड़ा और साफ़ तरीके से वे कहते कि एक इतिहासकार के रूप में मुझे नदी को देखने का तरीका यानी 'सीइंग द रिवर' सीख लेना चाहिए। वास्तव में एक बहुत ही रोचक और घटनापूर्ण इतिहास वहाँ लिखा जा सकता है, जहाँ बहता हुआ जल सभी प्रकार की परिघटनाओं से मिल जाता है और यदि कोई कल्पना कर सके तो यह बहता हुआ जल मनुष्य की एक विशेष प्रकार की नियति से मिल जाता है।[19] विश्व की सभ्यताओं के अध्येता इस बात को रेखांकित करते रहे हैं कि मनुष्य की नियति को आग के आविष्कार, खेती की शुरुआत, पशुपालन और राज्य निर्माण की प्रक्रियाओं ने गहरे हद तक प्रभावित किया है। इसके अध्ययन के लिए पुरातत्त्व, सिक्के, मानव-अवशेष, हड्डी, पत्थर और धातु के औजार, अभिलेख आदि मदद करते हैं। इससे आगे जाते हुए बीसवीं शताब्दी में ही इतिहास लेखन के नये प्रतिमान, सन्दर्भ और सामग्री

के साथ कई इतिहासकार सामने आए। फ्रेंच एनल्स स्कूल के मार्क ब्लॉख, लुसियन फेब्रे और सबसे बढ़कर ब्रोदेल ने इतिहास लेखन में परम्परागत 'अभिलेख' की धारणा ही बदल दी। उन्होंने कलाकृतियों और बनते-बिगड़ते भू-दृश्यों तक को इतिहास लेखन की सामग्री के रूप में देखा और उसकी व्याख्या के लिए प्रयुक्त किया।[20] गिलबर्टो फ्रेयरे जैसे दक्षिण अमेरिकी इतिहासकारों ने फसलों, जल और मनुष्य के रिश्ते की विवेचना प्रस्तुत की। अपने अध्ययन 'नार्थ ईस्ट' में फ्रेयरे ने गन्ने की खेती करने वाले किसानों का इतिहास, उनके वातावरण और प्रकृति के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया। उन्होंने गन्ने की फसल के माध्यम से वहाँ के समाज और भू-दृश्य के बीच स्थापित होने वाले सम्बन्धों की विवेचना की।[21] विगत शताब्दी के अन्तिम दो दशकों से पर्यावरणीय इतिहास पर काम करने वाले विद्वानों ने 'सोशल मेटाबोलिज्म' जैसी अवधारणाओं पर बात आरम्भ की है जो पर्यावरण और समाज के उस सन्तुलन का अध्ययन करता है जिसमे एक पक्ष बिगड़ जाने पर दूसरा स्वत: बिगड़ जाता है।[22]

वास्तव में भारत देश का इतिहास नदियों द्वारा इतिहास की एक चालक शक्ति के रूप में निभायी गयी भूमिका की पड़ताल किये बिना लिखना ठीक नहीं होगा। एक लम्बे समय तक इतिहास की चालक शक्ति नायकों और उनके अनुयायियों में निहित मानी जाती रही है जबकि पर्वतों, रेगिस्तानों और नदियों ने देश के इतिहास को गहरे तक प्रभावित किया है। शायद इसीलिए बहुत पहले नीरद सी. चौधरी ने भारत के जीवन बोध को समझने के लिए किसी व्यक्ति विशेष पर नहीं बल्कि पर्वत, मैदान और नदी को वास्तविक नायक मानने पर जोर दिया था।[23] बाद में जैसा इस किताब में हम देखेंगे कि यह नायक निषाद सुमदाय के असंख्य स्त्री-पुरुष हो जाते हैं। जन-नायक की जगह 'जन ही नायक' हो जाता है। अपने संस्मरणों में अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन ने लिखा भी है कि उनका जीवन नदियों के इर्द-गिर्द ही बुना गया था। उन्होंने एडम स्मिथ के हवाले से नदी की देखी और

अनदेखी भूमिका के बारे में कहा है कि भारत के विकास में नदियों और उनके किनारे बसे स्थानीय प्रशिक्षित लोगों का योगदान रहा है। नदियों की लोगों के व्यावहारिक जीवन में महत्ता थी ही, उसने उनकी कल्पना क्षमता को भी प्रभावित किया।[24] इस कल्पना क्षमता ने विशिष्ट नदी संस्कृतियों को जन्म दिया है। भारत की जो सांस्कृतिक बहुलता है, वह दरअसल नदीय बहुलता का प्रकटीकरण भी है। इस बहुलता ने भारत को रचा है। यदि निषादों की एक विशिष्ट संस्कृति है जिसको 'निषाद बाँसुरी' में कुबेरनाथ राय[25] ने लक्षित किया था तो उसका रूप इन्हीं नदियों ने सँवारा था। उन्हें मनुष्यों के एक विशिष्ट समुदाय के रूप में नदियों ने ही परिवर्तित किया था। मार्क ब्लॉख ने कहा भी था कि मानव इतिहास भू-दृश्यों के पीछे, मशीनों या औजारों के पीछे, औपचारिक रूप से लिखे दस्तावेज़ों में निहित होता है, यह इतिहास मनुष्यों के समूह का होता है और इतिहासकार इन्हीं मनुष्यों के बारे में ज्यादा से ज्यादा जानना चाहता है।[26] भू-दृश्य के विचार को थोड़ा सा विशेषीकृत करते हुए सुनील अमृत कहते हैं कि यह इतिहास पानी की रासायनिक बनावट के पीछे रहता है। ...इतिहासकारों द्वारा इसकी भूमिका को समझा जाना बाकी है।[27] इस ऐतिहासिक दृष्टि में नदी को महत्ता तो मिल जाती है जो काफ़ी सन्तोष की बात है लेकिन मार्क ब्लॉख और सुनील अमृत के सीमित तर्क को थोड़ा विस्तृत किया जाना चाहिए। यह इतिहास दृष्टि पूर्ण और मानवीय तब तक नहीं होगी, जब तक इसमें 'मनुष्यों का समूह' न हो, वह मनुष्य जिसका इतिहास और संस्कृति नदियाँ रचती हैं। इस सन्दर्भ में मार्क ब्लॉख एक बात और कहते हैं : अच्छा इतिहासकार किसी परिकथा का दैत्य है, वह जानता है कि उसके सवाल का जवाब वहीं है, जहाँ उसे मनुष्य की देह की गन्ध मिलती है।[28] मेरे लिए मनुष्य की वह गन्ध नदियों के किनारे बसे निषाद समुदाय से सम्बन्ध रखती है। उनकी यह गन्ध उनके पूरे जीवन-संसार में रची-बसी है। इस किताब में उस गन्ध को गंगा और यमुना नदियों के किनारे की गयी एथ्नोग्राफी में पकड़ने

की कोशिश की गयी है। मनुष्यों के जीवन के इतिहास के लिए हमें इतिहास के स्त्रोतों के साथ-साथ मनुष्यों के समुदायों की ओर देखना होगा। जैसा देरिदा कहते हैं कि कोई पाठ चाहे साहित्यिक हो या मानव वैज्ञानिक, या किसी अन्य प्रकार का कोई लेख, यह उपस्थिति और अनुपस्थिति का एक खेल भर है।[29] किसी ऐतिहासिक या साहित्यिक पाठ में अनुपस्थिति के इस खेल को समझने के लिए समुदायों की स्मृतियाँ, उनकी गवाही, सांस्कृतिक और आर्थिक संरचनाओं का अध्ययन बहुत आवश्यक है। इस किताब में इस बात का ध्यान रखा गया है कि निषादों की अनुपस्थिति को उपस्थिति के दायरे में लाया जाए।

गंगा नदी : एक सन्दर्भ बिन्दु

भारतीय इतिहास में गंगा एक ऐसी सांस्कृतिंक रूपक है जिसकी राजा-प्रजा, कृषक-मजदूर, बाल-वृद्ध-नारी, सैनिक और संन्यासी अर्चना करते रहे हैं। कर्नाटक में पाये गये अभिलेखों में गंगा को चार प्रमुख तीर्थों में शामिल किया गया है। अभिलेखों से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि राजाओं के अभिषेक के समय गंगा का जल प्रयुक्त किया जाता था।[30] इन तथ्यों को रेखांकित करने का आशय केवल यही है कि एक सांस्कृतिक कल्पना के रूप में गंगा नदी उन क्षेत्रों में भी आदर पाती थी, जहाँ वह नहीं बहती थी। एशिया के भावी इतिहास पर नज़र रखने वाले विद्वानों ने यहाँ तक कहा है कि भारत का भविष्य गंगा नदी से सीधे जुड़ा हुआ है।[31] थोड़ा सा विशेषीकृत तरीके से कहें तो उत्तर भारत का कोई भी इतिहास गंगा नदी के बिना अधूरा है लेकिन आधुनिक भारत में गंगा नदी का कोई सन्तोषजनक सांस्कृतिक इतिहास उपलब्ध नहीं है जो इस बात की पड़ताल करे कि एक राष्ट्र के रूप में आधुनिक भारत ने गंगा नदी से किस प्रकार बरताव किया है। प्राचीन भारत से सम्बन्धित कालखण्ड पर तो इस

विषय पर विपुल सामग्री उपलब्ध है जो गंगा नदी और उसकी विस्तृत घाटी, उसके जलभराव क्षेत्र की ऐतिहासिक भूमिका का मूल्यांकन करती है, उसके सांस्कृतिक अवदान की चर्चा करती है।[32]

गंगा नदी के बारे में उतने ही शास्त्रीय आख्यान और लोक वृत्तान्त हैं जितनी भारत में संस्कृतियाँ हैं। भारत की विभिन्न संस्कृतियों में उनके रूपक एकवचन में नहीं हैं, गंगा को लेकर भी ऐसा ही कहा जा सकता है। गंगा नदी के रूपक के इर्द-गिर्द कविताओं, महाकाव्यों, मूर्तिकला, चित्रकला, लौकिक साहित्य और संगीत का गहन जाल तो बुना ही गया है, उसके बारे में ऐतिहासिक अभिलेख और सिक्के कम नहीं हैं। राजा और प्रजा दोनों की कल्पनालोक में गंगा नदी बनी रही है। गुप्त सम्राटों के युग में, चौथी शताब्दी ईसवी के बाद मकरवाहिनी गंगा की मूर्ति न केवल एक प्रमुख भारतीय कला रूप में उपस्थित है बल्कि वह नदी की पारिस्थितिकी को भी प्रकट करती है। गुप्त युग में मन्दिरों के प्रवेश द्वार पर गंगा और यमुना की मूर्तियों का अंकन होता था।[33] गंगायमुनोश्चामरग्राहिणी : गंगा-यमुना के मन्दिर में चामरग्राहिणी का काम करने वाली स्त्री। गुप्त युग में चपटे छत वाले मन्दिरों के चलन के साथ यह एक प्रमुख विशेषता बन गयी थी जब मन्दिर के प्रवेश द्वार पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ उनके वाहनों के साथ बनायी जाती थीं। झाँसी में देवगढ़ का दशावतार मन्दिर, जबलपुर में तिगवा, अजयगढ़ में नचना-कुठार, नगोद में खोह, असम में दाह-परबतिया के मन्दिर द्वार पर गंगा-यमुना की मूर्तियो का अंकन गुप्त शासक चन्द्र गुप्त द्वितीय (375-413 ईस्वी) के समय आरम्भ हुआ।[34] इसी प्रकार राष्ट्रकूट शासकों के समय बने एलोरा के कैलाश मन्दिर के एक भाग के रूप में गंगा-यमुना संज्ञक नदी-देवताओं के मन्दिर का प्रमाण मिलता है।[35] गंगा की मकर वाहिनी मूर्तियाँ और यमुना की कच्छप वाहिनी मूर्तियाँ मन्दिरों की दीवारों के साथ स्वतन्त्र रूप से भी मिलती हैं। अहिच्छत्र में एक मकरमुख का प्रमाण मिला है।[36] इसके पीछे सम्भवतः यह विचार रहा होगा कि जो लोग नदी के

जल में स्नान न कर पाये हों, वे मन्दिर प्रवेश द्वार पर ही गंगा और यमुना का दर्शन कर लें।

गुप्त काल के दौरान अवतारवाद के चरमोत्कर्ष, मन्दिरों के निर्माण और उससे नदियों के इस जुड़ाव ने लोक कल्पना में नदियों के किनारे तीर्थ स्थलों को लोकप्रिय बनाया। मध्य प्रदेश में उदयगिरि की वराह गुफा की दीवारों पर मकरवाहिनी गंगा एवं कच्छप वाहिनी यमुना की मूर्तियों का अंकन है।[37] यह गंगा और यमुना नदियों के दैवीकरण की कलात्मक परियोजना का पहला स्पष्ट उदहारण है। इसके बाद मन्दिरों की द्वार रक्षिका के रूप में गंगा और यमुना की मूर्तियाँ व्यापक प्रसार में दिखने लगती हैं।[38] ऐहोल, कर्नाटक तथा महाराष्ट्र में एलीफैण्टा की गुफाओं में गंगाधर शिव का अंकन एवं मूर्तियाँ मिलती हैं। पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में गुप्त सम्राट कुमारगुप्त (415-455) ने देवी गंगा प्रकार के सिक्के चलाये जिसमें एक ओर मकरासीन देवी गंगा का अंकन है और सिक्के के दूसरे ओर घोड़े की पीठ पर बैठे हुए राजा का अंकन है, उसके नीछे ब्राह्मी लिपि में श्री महेन्द्र खड्ग लिखा है। यहाँ ध्यातव्य है कि महेन्द्र कुमारगुप्त की उपाधि है। पूर्व मध्यकाल में एक तीर्थ स्थल के रूप में गंगा इतनी प्रसिद्ध हुई कि महेन्द्रपाल के प्रभातगढ़ ताम्रपत्र लेख में गंगा को 'काहिकी गंगा' कहा गया। कर्नाटक में पाये गये अभिलेखों में गंगा को चार प्रमुख तीर्थों में परिगणित किया गया है। वास्तव में गंगा नदी को स्मार्त्त और आगम परम्पराओं में बहुत ही सम्मान प्राप्त था। अभिलेखों से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि राजाओं के अभिषेक के समय गंगा का जल प्रयुक्त किया जाता था। गंगा में स्नान के बाद राजा दान देते थे। गहड़वाल राजाओं ने गंगा के किनारे स्नान करने के बाद दान दिये थे।[39] इन तथ्यों को रेखांकित करने का आशय केवल यही है कि एक सांस्कृतिक कल्पना के रूप में गंगा नदी उन क्षेत्रों में भी आदर पाती थी, जहाँ वह नहीं बहती थी। इसी के साथ गंगा की पवित्रता के साथ अपने आपको जोड़कर शासक अपनी सत्ता का औचित्य भी

प्रतिपादित करते थे। सामान्य जनता के जीवन से गंगा तीर्थों और पुराण कथाओं के माध्यम से जुड़ी हुई थी ही। तीर्थों के लोकप्रियकरण के दौर में शासकों ने अपने प्रजा के बीच नदियों की पवित्रता को ला खड़ा किया। पहले जहाँ राजा ईश्वर का अवतार माना जाता था, वहाँ अब तीर्थों के द्वारा राजा अपनी प्रजा से जुड़ने का प्रयास करने लगे। इस किताब के अन्तिम अध्यायों में इस बात की ओर संकेत किया गया है कि किस प्रकार आधुनिक राज्य ने अपनी प्रभुसत्ता के विस्तार के लिए नदियों और तीर्थों पर कब्जा जमाने का प्रयास किया।

संस्कृत सहित लगभग सभी भारतीय भाषाओं में गंगा नदी को सांस्कृतिक, धार्मिक और लौकिक सन्दर्भों में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पर यह अध्ययन अपने आपको संस्कृत भाषा और थोड़े से समय के लिए हिन्दी भाषा तक सीमित रहेगा। यह एक रोचक बात है कि आरम्भिक भारत में गंगा के अवतरण की कथा एक लोकप्रिय आख्यान हुआ करती थी। लोग इसकी कथा कहते और सुनते थे। वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड के सर्ग 37 से 44 तक गंगावतरण की कथा कही गयी है। यह कथा पूरी एक रात भर में विश्वामित्र द्वारा राम लक्ष्मण को सुनाई गयी है। इस प्रकार रामायण में इतिहास एक कथा और वृत्तान्त के रूप में आता है। ऋग्वेद में सरस्वती एक प्रमुख नदी है। वह मनुष्यों की मेधा बढ़ाने वाली बतायी गयी है (6,61,4) वह लोगों को समृद्धि देती है (10,30,12)। सरस्वती ऋग्वेद की सबसे पुनीत नदियों में मानी जाती है। इसी के साथ ऋग्वेद के तीसरे मण्डल में नदियों की वन्दना की गयी है (3,3)। विश्वामित्र विपात एवं शतुद्रि नदियों से संवाद करते हैं । इस स्थल पर विश्वामित्र नदियों को बहन कहते हैं (3,33,9)। ऋग्वेद के ही दसवें मण्डल में (10,75,5) में गंगा नदी का भी उल्लेख है। रामायण में शृंगवेरपुरम में गंगा के तट पर रात्रि बिताकर राम द्वारा गंगा नदी पार करने का उल्लेख है। वहीं पर न केवल निषादराज का उल्लेख है बल्कि उनके उस समूह का उल्लेख है जिनके पास बहुत सी नौकाएँ थीं, जिससे वे

यात्रियों को गंगा के पार उतारते थे, (मैत्रे मुहूर्ते प्रययो प्रयागवनमुत्तमं (02/89/21)।

वास्तव में रामायण में गंगा नदी के प्रति आदर एवं श्रद्धा-भाव पहली बार स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है, जहाँ वे एक नदी से बढ़कर एक देवी के रूप में अधिष्ठित हैं एवं उनकी अर्चना की जा रही है लेकिन महाभारत तक आते-आते गंगा नदी का यह देवी-सन्दर्भ बदल जाता है। अब गंगा नदी पार्थिव सन्दर्भों और मानवीय देह के साथ हमारे सामने उपस्थित होती है। महाभारत का कवि गंगा नदी के शारीरिक सौष्ठव का वर्णन करता है और एक सुदर्शन पुरुष गंगा नदी से प्रणय निवेदन करते हुए देखा जा सकता है। गंगा प्रतीप से कहती है कि मैं न तो परित्यक्त हूँ और न ही कुख्यात, मैं स्वर्ग की शीलवान नारी हूँ, मुझसे प्रेम करो जैसे मैं तुमसे करती हूँ।[40] इसके बाद प्रतीप गंगा को अपनी पुत्रवधू बनाने का प्रस्ताव रखते हैं जिसे वह मान जाती हैं। गंगा का शान्तनु से विवाह हुआ और इसके बाद आठ वसुओं की कहानी है। आठवें वसु देवव्रत भीष्म हुए।[41] भारतीय साहित्य में ऐसी कोई शताब्दी नहीं बीती है, जब गंगा नदी पर कविता न लिखी गयी हो। ऋग्वेद के कवि-ऋषियों से लेकर नागार्जुन तक यह काव्य-नदी बहती हुई चली आयी है। महर्षि वाल्मीकि, महर्षि व्यास के बारे में हम बात कर चुके हैं, आदि शंकराचार्य, विभिन्न पुराणकार और पण्डितराज जगन्नाथ ने गंगा की वन्दना में संस्कृत में कविताएँ लिखीं। गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, पद्माकर, निराला और नागार्जुन ने इस विषय पर हिन्दी भाषा में लिखा। इन कवियों की गंगा नदी के प्रति श्रद्धा का एक सांस्कृतिक और पारिस्थितिकीय परिप्रेक्ष्य भी है जिस पर समाज विज्ञान और मानविकी के विद्वानों द्वारा अभी तक ध्यान नहीं दिया गया है। संस्कृत और हिन्दी में गंगा नदी पर लिखी इन कविताओं का एक गहन पाठ भारतीय इतिहास और संस्कृति के कई अनछुए पहलुओं को उजागर तो कर ही सकता है, यह पाठ गंगा नदी की पारिस्थितिकी, पेड़-पौधों, वनस्पतियों, जानवरों और मछलियों

के बारे में एक नवीन दृष्टि प्रस्तुत करता है। यह कविताएँ भारतीय मनुष्य की नदी से उसके बेहद निजी पारिवारिक सम्बन्धों को तो हमारे सामने प्रस्तुत करती ही है, वे सामाजिक सम्बन्धों और उसकी दिशा की कहानी भी कहती हैं।

यहाँ यह भी कहना आवश्यक है कि मध्यकाल में कवि और चिन्तक गंगा के प्रति विश्लेषणपरक भी रहे। गुरु ग्रन्थ साहिब में जहाँ कहा गया : 'गंगाजल है सिफत तुम्हारी' तो वहीं गुरु नानक ने यह भी कहा कि गंगा में खड़े होकर पितरों को पानी देने से कुछ लाभ नहीं मिलेगा। कबीर, दादू और रैदास ने भी गंगा के प्रति प्रशंसापरक बातें कहीं लेकिन तीर्थ यात्रा आदि के प्रति काफ़ी आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया। तुलसीदास और सूरदास ने गंगा की प्रशंसा में काफ़ी लिखा है। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में लिखते हुए तुलसीदास ने रामचरितमानस और कवितावली में निषादों के बारे में, राम और निषाद समुदाय से उनके सम्बन्धों को चित्रित किया है। कवितावली में वे निषादों की गरीबी के बारे में बहुत ही प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करते हैं। वैष्णव भक्ति के परम्परागत ढाँचे से बाहर निकलकर देखें तो पूर्व औपनिवेशिक भारत में निषादों का दैनन्दिन जीवन बहुत ही कष्टमय था। उन्हें ठीक से मछली भी नसीब न थी क्योंकि जिस सहरी मछली का उल्लेख तुलसीदास कर रहे हैं, वह बहुत ही सामान्य और छोटी मछली होती है। एक असमान सामाजिक आर्थिक संरचना में अपनी सन्तानों को कोई निषाद शिक्षा प्रदान करने की सोच भी नहीं सकता था और प्रभुवर्ग से वाद-वाद तो बहुत दूर की बात थी।

बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में, मुहम्मद इक़बाल, रबीन्द्रनाथ टैगोर, जवाहरलाल नेहरू और अकबर इलाहाबादी ने गंगा नदी की साभ्यतिक पहचान पर विचार किया। एक बनते हुए राष्ट्र की पहचान का एक अभिन्न हिस्सा गंगा नदी के साथ पुनर्स्थापित किया गया। भारत को आज़ादी मिलने के दशकों पहले ही गंगा को एक नये बनते हुए राष्ट्र की नदी का दर्ज़ा मिल गया था।[12] फिर भी यहीं यह बात

जोड़ी जानी चाहिए कि शताब्दियों पहले एक पवित्र राष्ट्रीय दायरे के रूप में गंगा नदी की पहचान बन चुकी थी। आधुनिक भारत में नदी एक ऐसा स्थल बन गयी जहाँ पर पहुँचकर अतीत का वर्तमान से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता था, उसकी गवाही ली जा सकती थी। 1904 में मुहम्मद इक़बाल ने 'तराना-ए-हिन्द' लिखा जिसकी पहली ही पंक्ति थी : 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा'। इसमें इक़बाल ने गंगा नदी से यही पूछा भी था : हे गंगा! क्या तुम्हें वे दिन याद हैं जब हमारा काफ़िला तुम्हारे तट पर आकर रुका था? कोई भी धर्म आपस में दुश्मनी रखना नहीं सिखाता है और हम हिन्दी (हिन्दुस्तान के निवासी) हैं और हिन्दुस्तान हमारा घर है।[43] भारत के समृद्ध इतिहास से परिचालित और उसके भविष्य को बदल देने का इरादा रखने वाले जवाहरलाल नेहरू के लिए गंगा अतीत और भविष्य की नदी बन गयी थी। अपनी पत्नी की अस्थियों को इलाहाबाद की गंगा में विसर्जित करते समय उन्होंने लिखा :

न जाने हमारे कितने पूर्वजों की अस्थियाँ मन्थर गति से बहने वाली गंगा समुद्र तक ले गयी है और भविष्य में भी ले जाएगी।[44]

नेहरू ने यहाँ पुरखों का अर्थ नितान्त जैविक रूप में न करके सांस्कृतिक रूप में लिया है जिसका अर्थ भारतवासियों से लगाया जाना चाहिए। यह कोई अनायास नहीं था कि अपनी वसीयत में उन्होंने एक बार फिर गंगा नदी के बारे में लिखा। तब वे भारत के प्रधानमन्त्री थे। एक प्रधानमन्त्री की हैसियत से यह उनका एक राजनीतिक वक्तव्य भी था। उन्होंने अपनी हार्दिक इच्छा जाहिर की: यदि मेरी मृत्यु यदि विदेश में हो जाए तो मेरा अन्तिम संस्कार वहीं कर दिया जाए और मेरी अस्थियों को इलाहाबाद भेज दिया जाए। इसका एक छोटा सा हिस्सा गंगा में विसर्जित कर दिया जाए... ।[45] अपने बहुत से समकालीनों की तरह जवाहरलाल नेहरू के लिए गंगा भारत देश का पर्याय ही थी। कवि केकी दारूवाला अपने कविता संग्रह 'क्रासिंग

द रिवर्स' में भी यही बात कहते हैं कि नदी की तलहटी में जो गाद बैठी है, वह हमारे हजारों साल के इतिहास की साक्षी है।[46] यहाँ पर फ़र्नांद ब्रोदेल की 'लॉग ड्यूरी' को कविता के रूप में प्रकट किया जा रहा है। फिर भी हमें यह ध्यान रखना होगा कि इन वृत्तान्तों में निषाद या अन्य ऐसे नदीय समुदाय अनुपस्थित हैं। किसी इतिहासकार द्वारा नदी की इस गाद में से निषाद समुदाय की उपस्थिति का विवरण खोजना एक आवश्यक काम है। यह काम कुछ वैसे ही है जैसे निषाद समुदाय के लोग नदी में सिक्के खोजते हैं।

नदी, वर्ण एवं जाति व्यवस्था की समझ

आरम्भिक भारत से सम्बन्धित सामाजिक इतिहास लेखन में शूद्र वर्ण में शामिल जातियों को हीन एवं अपवर्जित समूह के रूप में सन्दर्भित करते हुए उन्हें ब्राह्मणवादी व्यवस्था के शिकार और इतिहास में निष्क्रिय सहभागी के रूप में दर्ज़ किया जाता रहा है जबकि इतिहास और संस्कृतियों के निर्माण में उनकी एक सक्रिय भूमिका रही है। बहिष्करण और भेदभाव के बावजूद उत्पादक गतिविधियों के केन्द्र में रहने और राजस्व सृजित करने वाला समूह होने के कारण उन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता था। यहाँ स्पष्ट किया जाना चाहिए कि इस किताब का उद्देश्य आरम्भिक भारत को किसी आदर्श समाज के रूप में चित्रित करना नहीं है बल्कि उस वातावरण की आर्थिक बनावट को स्पष्ट करना है जिसमें समाज के निचले स्तरों पर मौजूद समुदायों ने आर्थिक गतिविधियों को चलायमान कर रखा था। निषाद एक ऐसा ही समुदाय था। इसके साथ यह भी ध्यान देने योग्य है कि भारत में जाति व्यवस्था को एक ऐसी बन्द सामाजिक व्यवस्था के रूप में समझा गया है जिसमें विभिन्न जातियाँ पेशे, विवाह के नियमों, छुआछूत और बहिष्करण से परिचालित होती थीं। इस विमर्श में इस तथ्य को नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता रहा है कि विभिन्न जातियाँ

अपनी जीविका कैसे चलाती थीं? विभिन्न जातियों एवं समुदायों की संस्कृति के निर्माण में उनके सामाजिक अधिवास की भूमिका को भी समाज विज्ञान में उपेक्षित किया गया है। यह किताब यह बताने की कोशिश करेगी कि नदियों के किनारे रहने वाले समुदायों का अपने सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश से किस प्रकार का रिश्ता निर्मित होता रहा है। इस प्रकार यह किताब नदी-पारिस्थितिकी के परिदृश्य में निषादों के जीवन, संस्कृति और जीविका को समझने की दिशा में एक प्रयास है।

भारतीय समाज में जाति का अध्ययन उसकी आधारभूत पहचान, प्रकृति, समावेशन और बहिष्करण, विभिन्न जातियों के आपसी सम्बन्धों के सन्दर्भ में होता रहा है। इसके साथ ही समाज के सबसे निचले तबके में शामिल की जाती रही जातियों का अध्ययन पिछले तीन दशकों में विभिन्न अन्तर-अनुशासनिक विषयों के सिद्धान्तों और प्रविधियों द्वारा किया भी किया जा रहा है। यह अध्ययन मूल रूप से समकालीन समाज की वास्तविकताओं, राजनीति, चुनावी गोलबन्दियों, लक्षित जन कल्याण के कार्यक्रमों के मूल्यांकन के परिप्रेक्ष्य में हो रहा है। इसका ध्यान उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में आधुनिकता, लोकतन्त्र और मानवाधिकार के विचार से निकले विषयों पर केन्द्रित रहा है। इन अध्ययनों में 'लोग' और 'संसाधन' के बीच के जो आपसी सम्बन्ध रहे हैं, उन्हें उपेक्षित कर दिया गया है। ऐसे समय में किसी कालखण्ड से सम्बन्धित सामाजिक विज्ञान लेखन में उन अवयवों की पड़ताल आवश्यक हो जाती है जिससे किसी समुदाय का प्रतिदिन का सामान्य जीवन निर्मित होता है।

हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आरम्भिक भारत का जो सामाजिक इतिहास लेखन हुआ है, वह जाति और अनाज के अधिशेष उत्पादन की व्याख्या पर केन्द्रित रहा है। मार्क्सवादी इतिहासकारों ने समाज की भौतिक व्याख्या अधिशेष उत्पादन के सन्दर्भ में की। कोसम्बी ने लिखा भी : 'किसी भी समुन्नत संस्कृति का मूलाधार है

अनाज की सुलभता, और वह भी वास्तविक अनाज, अनाज-उत्पादक की अपनी निजी आवश्यकता की पूर्ति के बाद बचे हुए अनाज की सुलभता।'[47] इस इतिहास लेखन ने 'प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति' के भौतिक पक्षों की व्याख्या का जो आधार उपलब्ध कराया, उससे द्वितीय नगरीकरण की व्याख्या तो हो जाती है लेकिन इस व्याख्या में निषाद जैसे सामाजिक समूह ओझल हो जाते हैं। इस व्याख्या में 'स्थायी बस्तियों' का विचार भी काम करता है जहाँ पर एक सामाजिक अधिवास के विश्लेषण के द्वारा जातियों की उपस्थिति और उनके बसने के स्थानों के बारे में विवरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं लेकिन इधर हाल के वर्षों में इस प्रकार के विश्लेषणों पर सवाल उठाये गये हैं। कुछ समाज ऐसे भी थे जिनका विकास उस अनुक्रम में नहीं हुआ था जैसा हम ऐतिहासिक रूप से विश्वास करते रहे हैं। उनका जीवन खेतीया अनाज पर आश्रित नहीं था। अग्नि का प्रयोग करने के तरीकों, खेती की शुरुआत और राज्य-निर्माण की प्रक्रिया से ही इसे नहीं समझा जा सकता है। भारतीय उपमहाद्वीप में ऐसे समूहों की उपस्थिति को रेखांकित करते हुए जेम्स सी. स्कॉट घुमन्तू समुदायों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।[48] इसी प्रकार निषादों का जीवन अनाज की प्रधानता पर उस प्रकार नहीं टिका हुआ था, जैसा कि अन्य समुदायों का। आरम्भिक संस्कृत ग्रन्थों और बौद्ध पाठों में वे मछली पकड़ते और वनों में शिकार करते वर्णित किये गये हैं। यहाँ तक कि व्यवस्थित किसानों की दृष्टि में निषादों का काम हीन पेशे में गिना जाता था।[49] ऐसे में निषादों के जीवन और आर्थिक गतिविधियों की पड़ताल जरूरी हो जाती है। इस किताब में इसका प्रयास किया गया है।

अतीत और वर्तमान के बीच सम्बन्ध

विभिन्न स्रोतों से इस इतिहास की सामग्री को एकत्र करते समय कोई

यह भी महसूस कर सकता है कि यदि इतिहास जीते-जागते इंसानों की गाथा है, मानवता को आगे ले जाने वाले प्रयासों और परिवर्तनों की पहचान है तो वे इंसान कहाँ पाये जा सकते हैं? वे न केवल पुस्तकों में थे बल्कि हमारे चारों तरफ मौजूद थे। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो इतिहास के विद्यार्थी के रूप में आप उन्हें अपने चारों ओर देख सकते हैं। इस किताब में इन इंसानों के बारे में भी लिखने का प्रयास किया गया है। हम जानते हैं कि लिखित शब्द दूर-दूर तक बिखरी पीढ़ियों के बीच विचारों के सम्प्रेषण को आसान बना देते हैं। वे किसी सभ्यता की सच्ची धारावाहिकता बनाये रखते हैं। जो इतिहासकार लोगों को समझना चाहता है, उनकी व्याख्या करना चाहता है, वह उन्हें उनके युग परिदृश्य में लौटाने की कोशिश करता है। मार्क ब्लॉख ने इतिहास, लोगों और समय पर बात करते हुए यह बात कही भी थी कि जिस प्रकार अतीत से वर्तमान को समझा जा सकता है। इसी प्रकार वर्तमान से अतीत को भी समझने की कोशिश की जा सकती है।[50]

इसके लिए उपलब्ध स्रोतों का पुनर्पाठ करने का प्रयास किया गया है। लोगों के बारे में जानने के लिए एक गहन फ़ील्ड वर्क भी किया गया है जिसे इस किताब के उत्तरवर्ती अध्यायों में शामिल किया गया है। इस शोध के लिए जिन प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए ध्यान केन्द्रित किया है वे इतिहास और वर्तमान में लगातार अनुक्रिया करते रहे हैं। कहने का आशय यह है कि इतिहास वर्तमान को प्रभावित करता है तो वर्तमान के कुछ विचारों की आधारशिला सुदूर अतीत में रखी जा रही थी।

सर्वप्रथम निषाद समुदाय के बारे में

इस किताब में 'समुदाय' शब्द का प्रयोग एक जेनरिक अर्थ में किया गया है। समुदाय शब्द की भारतीय समझ इसे व्यक्ति, समूह और देश-काल के सन्दर्भ में व्याख्यायित करती है। महाभारत में साथ में

होने के अर्थ में और जातक कहानियों में व्यक्तियों/ पक्षियों आदि का एक-दूसरे के नजदीक आने के सन्दर्भ में समुदाय शब्द का प्रयोग हुआ है। बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान में व्यक्तियों का एक-दूसरे के नजदीक आने के सन्दर्भ में समुदाय का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार अमरकोश में समवाय, गण, वृन्द, जुड़ाव, संग्रहण या बहुगुणनीय के अर्थ में इसे प्रयुक्त किया गया है।[51] इसके साथ ही कोई समुदाय अपने आपको स्वयं ही परिभाषित करने का प्रयास करता है जिसमें उनके मौखिक इतिहास, सामूहिक स्मृतियाँ और लिखित इतिहास का योगदान होता है। इस प्रकार समुदाय पेशा, निवास स्थान, विवाह, मृत्यु संस्कार, सामाजिक-आर्थिक दशाओं से आपस में गहन तरीके से जुड़े हुए समूह को कहा जा सकता है। इस गहनता को जाति व्यवस्था मज़बूती प्रदान करती है। एक-दूसरे छोर पर बहिष्करण और समान वंचनाएँ व्यक्तियों के समूहों को समुदाय के रूप में गठित करती हैं। वर्ण व्यवस्था में सबसे निचले स्तर पर शूद्र थे। शूद्र वर्ण की विभिन्न जातियों ने अपने आपको एक समुदाय के रूप में गठित किया। पेशे की समानता, बहिष्करण, अस्पृश्यता, विवाह सम्बन्धों की कठोरता ने इसमें निरन्तरता पैदा की।

इतिहास, स्मृति और दावेदारी

संसाधनों पर अपने दावे के लिए विभिन्न समुदाय राज्य से संघर्ष करते रहते हैं। औपनिवेशिक भारत में आदिवासी समुदायों ने राज्य से भीषण प्रतिरोध किये हैं। वर्तमान समय में उन क्षेत्रों में जहाँ पर वन सम्पदा अधिक है, वहाँ पर राज्य और उसके नागरिकों के बीच संघर्ष देखा जा रहा है। इस संघर्ष में विभिन्न समुदाय अपना दावा (क्लेम) प्रस्तुत करते हैं। प्रश्न उठता है कि यह दावा वे कहाँ से लाते हैं? सामान्यतः इस दावे के समर्थन में दावा प्रस्तुत करने वाला समुदाय कहता है कि जब से पृथ्वी है, तब से वे वहाँ पर रह रहे हैं। इसमें विभिन्न समुदायों

में लोककथाएँ, सामुदायिक स्मृतियाँ और मौखिक इतिहास भूमिका निभाते हैं। यदि हम उत्तर प्रदेश में चलने वाले समकालीन हकदारी आन्दोलनों को समझना चाहते हैं तो हमें आरम्भिक भारत के इतिहास का अध्ययन करना होगा जहाँ हमें एक सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य प्राप्त हो सकता है। जैसा हमने देखा है कि इतिहास के प्रमुख पाठों और युगों में इन समुदायों का संसाधनों के साथ रिश्ता छिपा हुआ है। यह अध्ययन यह बताने के प्रयास करता है कि समुदायों की लोककथाएँ, सामुदायिक स्मृतियाँ और मौखिक इतिहास इसी इतिहास से जन्म लेते हैं और वे दावा प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार इन दावों की ऐतिहासिक परम्परा का अभिलेखीकरण आवश्यक हो जाता है जो प्रायः उन अध्ययनों में नहीं पाया जाता जो समस्या को उसकी समकालीनता में देखना चाहते हैं।

यह बात स्पष्ट कर दी जानी चाहिए कि सभी समुदाय अपने दावों की ऐतिहासिकता के आधार पर गोलबन्द होकर अपने अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। महत्त्वपूर्ण यह भी है कि निषादों ने स्वयं अपने आपको एक समुदाय के रूप में माने जाने पर जोर दिया है। इसके लिए वे लिखित, मौखिक इतिहास, दन्तकथाओं का सहारा लेते हैं। इससे वे आपस में जुड़ते हैं। यह जुड़ाव उन्हें सांस्कृतिक और राजनीतिक गोलबन्दी में मदद करता है। वे नदी में नाव चलाने, नदी में से बालू निकालने के अनन्य अधिकार, आरक्षण की माँग और अपनी श्रेणी में परिवर्तन की माँग राज्य सरकार से कर सकते हैं। एक समुदाय के रूप में बालू निकालने के अनन्य अधिकार के लिए वे न्यायपालिका की शरण में जा सकते हैं।

ऐसा नहीं है कि मैं इतिहास का पहला विद्यार्थी होऊँगा जो ऐसा शोध करना चाहता है। मुझसे पहले के लोगों ने निषादों के जीवन पर गहनता से विचार किया है। कुछ ने नदियों पर विशेषकर गंगा, यमुना,

गोदावरी और ब्रह्मपुत्र के सांस्कृतिक और आर्थिक पक्ष पर लिखा है तो कुछ ने उनके धार्मिक और भौगोलिक अवदानों पर लिखा है। इसके साथ यह सर्वविदित तथ्य है कि नदियों पर रचनात्मक साहित्य हर लिखित एवं मौखिक भाषा में मौजूद है।

तो सबसे पहले नदियों पर उपलब्ध विद्वत्ता के बारे में, विशेषकर गंगा के बारे में। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि गंगा भारत की शाश्वत नदी है। यह आप रघुबीर सिंह,[52] एरिक न्यूबी और हेनरिक वॉन स्टीनकॉर्न के ग्रन्थों में देख सकते हैं। इन विद्वानों ने भारत की संस्कृतियों के एक महत्त्वपूर्ण रूपक के रूप में गंगा के बारे में बात की है। स्टीनकॉर्न ने 'गंगा एण्ड यमुना : रिवर गाडेसेस एण्ड देयर सिम्बालिज़्म इन इण्डियन टेम्पेल्स' में इस प्रश्न की व्यापक पड़ताल की है कि गंगा और यमुना नदियाँ भारतीय मनोजगत में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान क्यों रखती आयी हैं।[53] हिन्दी भाषा के साहित्यकार कुबेरनाथ राय ने 'निषाद बाँसुरी' में यही बात कहने की कोशिश की थी। 1982 में प्रकाशित ललित निबन्धों की उनकी इस किताब में निषाद समुदाय के सांस्कृतिक अवदान, उनकी ऐतिहासिक स्मृतियों और जीविका के पक्ष पर बात की गयी है। एक स्रोत के रूप में यह मूल्यवान ग्रन्थ है।[54] अभी हाल ही में, 2014 के लोकसभा चुनाव के बाद गंगा नदी ने भारत की लोकप्रिय राजनीतिक कल्पनाओं में नया रूप ग्रहण कर लिया है। 2017 में प्रकाशित पत्रकार विक्टर मेलेट की किताब 'रिवर ऑफ़ लाइफ, रिवर ऑफ़ डेथ : द गंगेज एण्ड इण्डिया'ज फ्यूचर' गंगा की धार्मिक, ऐतिहासिक और जीव वैज्ञानिक विशेषताओं, उसके सांस्कृतिक और राजनीतिक रूपकों की चर्चा करने के साथ उसे भारत के भविष्य के साथ जोड़ती तो है[55] लेकिन मेलेट भारत के जिस भविष्य की कल्पना करते हैं, उसमें निषाद नहीं हैं। नदियों के बारे में कुछ काम साहित्यिक स्रोतों के आधार पर हुए हैं जैसे पुराणों में गंगा या संस्कृत साहित्य में गंगा।[56] यह अध्ययन भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक कल्पना में गंगा के स्थान को न केवल

निर्धारित करते हैं बल्कि इनसे यह भी पता चलता है कि भारतीय संस्कृतियों में नदियों को इतना समादरणीय क्यों माना जाता है।

जहाँ तक निषादों के बारे में शोध का सवाल है, उसमें विवेकानन्द झा का नाम सबसे ऊपर लिया जाना चाहिए। उन्होंने अशपृश्यता के उद्भव और विकास को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने के साथ ही साथ निषादों के सांस्कृतिक जीवन की चर्चा की है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के दार्शनिक आधारों को खोजते हुए उन्होंने यह बताया कि उच्चताक्रम आधारित समाज में अशपृश्यता को बहुत सूक्ष्म स्तरों पर ले जाकर उसे किस प्रकार व्यापक बनाया जाता है।[57] अपने एक-दूसरे काम 'फ्रॉम ट्राइब टू अनटचेबल : द केस ऑफ़ निषाद' में वे भारत के सामाजिक ढाँचे के अन्दर निषादों के एक अछूत समुदाय के रूप में उदय, उनके पेशे तथा निवास स्थानों के बारे में बताते हैं।[58] पुराणों में वर्णित सामाजिक व्यवस्था और उसकी सांस्कृतिक कल्पना में निषादों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस आधार पर कुछ काम कर्मकाण्ड आधारित अर्थव्यवस्था और राजनीति को लक्षित करते हुए किये गये हैं। इन कामों में गुप्तकाल और पूर्व मध्यकालीन भारत में निषादों की सामाजिक-आर्थिक दशाओं और राज्य के साथ उनकी अनुक्रिया के बारे में पता चलता है।[59]

आधुनिक भारत में निषादों के बारे में कुछ बेहतरीन काम हाल के वर्षों में हुए हैं। औपनिवेशिक उत्तर भारत के भोजपुरी भाषा-भाषी उत्तर प्रदेश एवं बिहार में निषादों के जीवन पर विद्वानों के काम ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है।[60] स्मिता तिवारी-जस्सल का काम औपनिवेशिक भारत में 'निषाद' अस्मिता के निर्माण के बारे में बताता है कि 'निषाद' शब्द केवल पेशेगत वैशिष्ट्य को ही नहीं बल्कि यह अपने अन्दर प्राचीन और समृद्ध ऐतिहासिक परम्पराओं को समेटे है। जस्सल ने अपने इस काम में उस औपनिवेशिक निर्मिति की गहन पड़ताल भी है जो निषादों को जन्मजात अपराधी मानती आयी है। और जिसने अपनी सुविधानुसार उनका प्रजाकरण किया, उन्हें ताबेदार

बनाया।[61]

अस्सा डोरोन का बनारस के निषादों के ऊपर काम काफ़ी चर्चा में रहा है। मूलतः फ़ील्ड वर्क आधारित उनके काम में गंगा के तट पर बसे बनारस के निषादों की जीवन प्रणाली और उनकी परिस्थितियों को देशकाल-वातावरण में स्थापित करते हुए विवेचित किया गया है। डोरोन ने नाव चलाने वाली जाति के रूप में निषादों के ऊपर औपनिवेशिक तथा उत्तर-औपनिवेशिक विचारधाराओं के प्रभाव का विश्लेषण किया है। आधुनिक राज्य एवं समाज ने उनके ऊपर किस प्रकार के आर्थिक-सांस्कृतिक प्रतिबन्ध लगाये हैं और समकालीन भारत की राजनीति ने किस प्रकार की सामाजिक-आर्थिक असमानता पैदा की है, इसे अस्सा बहुत खूबसूरती और मार्मिकता से पेश करते हैं।[62] फिर भी उनका काम 'घाट-केन्द्रित' है, वह भी वाराणसी के चुनिन्दा घाटों तक ही सीमित है। इस सबके बावजूद नदियों और निषादों के सामाजिक सांस्कृतिक जुड़ाव पर शोध न के बराबर हैं। बहुत सी खाली जगहें छूट गयी हैं जिसे इस किताब में भरने की कोशिश की गयी है। इस पृष्ठभूमि में, इस किताब के लिए कुछ सवाल चुने गये हैं जिनका जवाब आगामी पृष्ठों में दिया जाना है। यह शोध प्रश्न हैं :

- पूर्व औपनिवेशिक भारत में विभिन्न जातियों का प्राकृतिक संसाधनों से किस प्रकार का सम्बन्ध रहा है?
- पूर्व औपनिवेशिक भारत में निषादों के जीवन, संस्कृति और जीविका के क्षेत्र में नदी-पारिस्थितिकी की क्या भूमिका रही है?
- निषादों के जीवनबोध और उनकी संस्कृति को नदियाँ किस प्रकार निर्धारित करती हैं?
- आधुनिक समय में निषादों की जीविका के सवालों को राज्य और स्वयं निषाद किस प्रकार देख रहे हैं?

प्रस्तावित शोध परियोजना का उद्देश्य :

- पूर्व औपनिवेशिक भारत में नदियों के किनारे बसे निषादों की

संस्कृति का अध्ययन करना।

- निषाद समुदाय के जीवन एवं संस्कृति निर्माण में गंगा और यमुना नदियों की भूमिका का विश्लेषण करना।
- पूर्व औपनिवेशिक भारतीय संस्कृति के निर्माण में निषादों की भूमिका का मूल्यांकन करना।
- उस प्रभाव की पड़ताल करना जो औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक राज्य ने निषादों की संस्कृति पर डाला है।

कार्य-क्षेत्र और शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध में मूलतः पाठ आधारित विश्लेषण के साथ जमीनी सच्चाइयों के बारे में समझ बनाने के लिए भागीदारी आधारित पर्यवेक्षण को शामिल किया गया है। ध्यातव्य है कि शोधकर्ता ने अपने डाक्टोरल शोध और उसके बाद भी, 2010 से 2017 के बीच इलाहाबाद जिले में जो एथ्नोग्राफी की थी, उसकी आंशिक सामग्री को इस शोध में शामिल किया गया है, साथ ही साथ दो वर्षों (2018–20) के भीतर चार महीनों का अतिरिक्त फ़ील्ड वर्क इस सामग्री का मूल्यवर्धन करता है। कुछ सहयोगी जानकारी पुस्तकालयों, अभिलेखागारों और न्यायिक अभिलेखों से जुटाई गयी है। निषादों की संस्कृति सहित उनके जीवन के विभिन्न पक्षों के बारे में एक विपुल लेखन स्वयं निषाद बुद्धिजीवियों ने आंगिक साहित्य के रूप में किया है। इस सामग्री को इस शोध में प्रयुक्त किया गया है। उत्तर प्रदेश के तीन अभिलेखागारों : लखनऊ स्थित उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार, वाराणसी क्षेत्रीय अभिलेखागार और प्रयागराज क्षेत्रीय अभिलेखागार से प्राप्त अभिलेखों की मदद ली गयी है।

सन्दर्भ

1. लाल, विनय (2019) : 63 में आशीष नन्दी का लेख 'एनअदर

कॉस्मोपोलिस : लिविंग विद रेडिकल डायवर्सिटीज एण्ड बीइंग वंस ओन सेल्फ'

2. https://www.downtoearth.org.in/hindistory/wildlife-biodiversity/biodiversity/Earth-in-the-new-era-Present-and-past-73629 10 नवम्बर 2020 को देखा गया।
3. कंज्वाइंड हिस्ट्री के लिए देखिए चक्रवर्ती, दीपेश (2021) : 49-47
4. चक्रवर्ती, दीपेश (2018) : 255
5. ब्रोदेल, फ़र्नांद (1980)10-11
6. हास्ट्रप, क्रिस्टेन और फ्रीडा हास्ट्रप (2015)
7. हास्ट्रप, क्रिस्टेन और फ्रीडा हास्ट्रप (2015) में संकलित : 279-99
8. शर्मा, राम शरण (1992)
9. वन, वनों में पाये जाने वाले जीवों के साथ आरम्भिक भारतीय समाज की अनुक्रिया और सांस्कृतिक बोध के लिए सिंह, उपिन्दर (2017) : 367-459 देखिए जहाँ उन्होंने वन, जाति व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था पर अन्तर्दृष्टिपूर्ण ढंग से लिखा है फिर भी एक सामाजिक दायरे के रूप में वन और समाज व्यवस्था पर इतिहास लेखन का घोर अभाव है।
10. शर्मा, राम शरण (2018) : 102-137
11. कोसम्बी, दामोदर धर्मानन्द (2016): 21
12. साहू, भैरबी प्रसाद (2006)
13. बाविस्कर, अमिता (2004); कोठारी, आशीष (2019)
14. मैकनिल, जॉन आर. आदि (2010) में महेश रंगराजन का लेख 'ऑफ़ नेचर एण्ड नेशनलिज्म : रिथिंकिंग इण्डिया 'ज नेहरू'
15. भट्टाचार्य ,सब्यसाची (2011) : 1-3
16. ओस्तिगार्द, तेर्जे (2018)
17. सैकिया, अरूपज्योति (2019)

18. सैकिया, अरूपज्योति (2019)
19. ब्रोदेल, फ़र्नांद (2002)
20. ब्रोदेल, फ़र्नांद (1980)
21. मैकनिल, जान आर. आदि (2010) : 17–23
22. मैकनिल, जान आर. आदि (2010) : 5
23. सिंह, रघुवीर (1992) का समर्पण पृष्ठ
24. सेन, अमर्त्य (2021) : 25–26
25. राय, कुबेरनाथ (2019)
26. ब्लॉख, मार्क (1954) : 26
27. अमृत, सुनील (2018) : 8–9
28. ब्लॉख, मार्क (1954)
29. देरिदा, जैक्स (1976) की भूमिका का 47वाँ पृष्ठ
30. पाठक, वी.एस. (1994) : 103
31. मेलेट, विक्टर (2017)
32. गंगा घाटी में सभ्यता निर्माण के लिए देखिए : लाल, मक्खन (1984)
33. अग्रवाल, वासुदेव शरण (1977) : 116
34. अग्रवाल, वासुदेव शरण (1995) : 211
35. मोतीचन्द्र एवं वासुदेव शरण अग्रवाल (2020) : 316
36. अग्रवाल, वासुदेव शरण (1977) : 59
37. स्टीनकार्न, हेनरिक वॉन (2010)
38. डेरियन, स्टीवन (2010) : 125
39. पाठक वी.एस. (1994) : 103
40. डोरोन, अस्सा आदि (2015) : 18
41. डोरोन, अस्सा आदि (2015) : 19–25
42. सेन, सुदीप्त (2020) : 345
43. आसिफ़, मनान अहमद (2020) : 7 पर उद्धृत
44. नेहरू, जवाहरलाल (2010): 39

45. https://www.nationalheraldindia.com/india/nehrus-will-let-my-ashes-scatter-over-fields-and-mingle-with-the-dust-and-soil-of-indiagap 27 मई 2020 को देखा गया।
46. दारूवाला, केकी (1976)
47. कोसम्बी, दामोदर धर्मानन्द (2016) : 22
48. स्कॉट, जेम्स सी. (2017)
49. बोस, अतीन्द्रनाथ (1963): 482–83
50. ब्लाख, मार्क (2013) : 49–56
51. अमर सिंह का अमरकोश (1995): 118
52. सिंह, रघुबीर (1992)
53. स्टीनकॉर्न, हेनरिक वॉन (2010)
54. राय, कुबेरनाथ (2019)
55. मेलेट, विक्टर (2017)
56. दुबे, दयाशंकर (2017)
57. झा, विवेकानन्द (1970)
58. झा, विवेकानन्द (1977)
59. नाथ, विजय (2009)
60. पुरुषोत्तम और जोस कलापुरा (2008)
61. तिवारी–जस्सल, स्मिता (2001)
62. डोरोन, अस्सा (2013)

जाति व्यवस्था की समझ और आरम्भिक भारत में शूद्रों की स्थिति

इस अध्याय का उद्देश्य आरम्भिक भारत में वर्ण व्यवस्था के भीतर शूद्र वर्ण का एक सामान्य इतिहास प्रस्तुत करना है। इसमें कई जातियाँ शामिल थीं, जिनके पेशे और रहनवारी के ढाँचे अलग थे। इस अध्याय को लिखने का उद्देश्य यह भी है कि यह दिखाया जा सके किस प्रकार शूद्र वर्ण में शामिल जातियों को विभिन्न प्रकार के सामाजिक-सांस्कृतिक बहिष्करण का सामना करना पड़ता था। इस बहिष्करण के आधारों को समझने में यह अध्याय हमारी सहायता कर सकता है और अगले अध्यायों की पृष्ठभूमि तैयार करते हुए निषाद समुदाय की अवस्थिति को समझने में भी हमारी सहायता करेगा।

भारतीय समाज के एक बड़े हिस्से के रूप में शूद्रों के इतिहास के बारे में समझ का विस्तार उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के औपनिवेशिक सामाजिक इतिहास लेखन की परियोजना की एक प्रमुख विशेषता है। इस समय देश को 'सुचारु रूप से चलाने और पाबन्द करने के लिए' जाति की समझ का पुनरुत्पादन किया गया।[1] ब्रिटिश उपनिवेश द्वारा नियुक्त भारत के जनगणना अधिकारियों और कर्मचारियों ने सामाजिक सूचनाओं को पहले तथ्य में और उसके बाद उसे समझ में परिवर्तित कर दिया और 'समादेश की भाषा' विकसित कर ली। जाति का एक आधिकारिक दृष्टिकोण विकसित

किया गया।[2] इसी के साथ एक दूसरा दृष्टिकोण भी विकसित हुआ। देश के निवासियों के एक हिस्से को 'बाहरी' तो दूसरे को 'देश का मूल निवासी', सभ्यता और संस्कृति को बनाने वाला माना गया। शूद्रों की गणना इसी वर्ग में की गयी। आर्यों को बाहर से आने वाला बताया गया जो बाद में उच्च वर्णों के रूप में तब्दील हो गये। यह भी माना गया कि श्रमिकों और शिल्पकारों के रूप में शूद्रों ने देश की भौतिक समृद्धि को बढ़ावा दिया।

इस इतिहास लेखन में जहाँ एक ओर वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति को ऋग्वेद से जोड़ा गया है वहीं दूसरी ओर सैन्धव सभ्यता के निर्माताओं में शूद्रों की भूमिका को चिह्नित करने का प्रयास किया गया। कहा गया है कि हड़प्पा का समाज वैदिक आर्यों के समाज की भाँति चार वर्गों में बँटा था—विद्वान, योद्धा, व्यापारी और शिल्पी। मोहनजोदड़ो के दुर्ग के बाहर दो-दो कोठरियों वाले सोलह मकान मिले हैं। विद्वानों की ऐसी धारणा है कि वे काम करने वाले मजदूरों के थे। इन मजदूरों में कुछ स्वतन्त्र मजदूर और कुछ दास रहे होंगे। स्वतन्त्र मजदूरों को निम्न या शूद्र वर्ग में रख सकते हैं। वे गोदामों में अनाज रखते, गेहूँ को कूटकर आटा बनाते, ईंटें बनाते, मकान सड़क और नालियों का निर्माण करते, सोने-चाँदी और ताम्बे के आभूषण बनाते और घर में काम आने वाले बर्तन और लकड़ी का सामान बनाते थे। कुछ लोग कपड़ा भी बनाते रहे होंगे।[3] चूँकि सिन्धु सभ्यता के बारे में कोई पाठ आधारित विश्लेषण मौजूद नहीं हैं, इसलिए इसके बारे में कोई अन्तिम बात नहीं कही जा सकती है, केवल अनुभव आधारित पूर्वानुमान किये जा सकते हैं जो इतिहास लेखन की कोई वैज्ञानिक पद्धति नहीं है। हाँ, वैदिक काल में यह समस्या नहीं रह जाती है। वहाँ इतिहासकार को इस दिक्कत का सामना नहीं करना पड़ता है।

ऋग्वैदिक समाज : धन, असमानता और विभेद

ऋग्वैदिक काल को हड़प्पा सभ्यता का उत्तरवर्ती काल माना जाता है। ऋग्वेद की तिथि 1500 ई.पू. के आसपास निर्धारित की गयी है। इसमें व्यक्त सामाजिक वास्तविकताओं को 1500 ई.पू. से लेकर 1000 ई.पू. तक के कालखण्ड के लिए विचारणीय माना गया है। ऋग्वेद में वर्णित सामाजिक सत्यों में समता को एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक मूल्य माना जाता है। माना गया कि ऋग्वैदिक समाज एक समतावादी समाज था। इस समाज में ऊँच-नीच नहीं था। इस व्यवस्था को कृतयुग से जोड़ा गया। कृतयुग की इस समता को ऋत् की अवधारणा से समझा जा सकता है। कहा गया है कि ऋत् का पतन वास्तव में ऋग्वैदिक समाज में लोभ के प्रसार और असमानता से जुड़ी परिघटना है। ऋत् को समकालीन भौतिक व्यवस्था का सूचक माना गया है। ऋग्वेद में कई ऐसे श्लोक हैं जिनमें कहा गया है कि ऋत् ने लोगों को उनकी गायों, जल, आहार, भौतिक सम्पदा और जीविका के साधनों के बारे में आश्वस्त किया। ऋग्वेद के अपेक्षाकृत समतावादी समाज में जीविका के इन संसाधनों के न्यायसंगत वितरण को भौतिक व्यवस्था कायम रखने का पर्याय माना जाता था। ऋत् को बचाये रखने का दायित्व मुख्य रूप से वरुण नामक देवता का था। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि कबाइली बन्धनों के टूटने और वर्गगत भेदों के उदित होने से जब लालच, द्वेष और परिग्रह जैसी अधम प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठीं तो लोग ऋत् के पतन पर विलाप करने लगे। ऋत् के पतन को नवीन सामाजिक वास्तविकताओं के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए जब एक नये प्रकार का समाज बनना आरम्भ ही हुआ था।[4]

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पुरुष सूक्त में कहा गया है कि विश्व-पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जँघे से वैश्य और चरणों से शूद्र पैदा हुए (10,90,1-2, 12)। ऋग्वेद के दसवें मण्डल को उत्तरवर्ती चरणों में जोड़ा गया माना जाता है। मानव शारीरिकी में पैर को उसकी अवस्थिति के कारण सबसे निम्नकोटि का माना गया

है। मनुष्य की काया की इस दार्शनिकता में जाति का एक उच्चताक्रम स्थापित किया गया जो उत्तरवर्ती चरणों में एक रूढ़ि बन गया। माना गया कि शूद्र का जन्म समाज के तीन अन्य वर्गों की सेवा करने के लिए हुआ है। इसी के साथ ऋग्वैदिक समाज में दास की अवधारणा भी महत्त्वपूर्ण हो उठती है। इन्हें दुश्चरित्र, बुरे स्वभाव और दुर्गुणों का प्रतीक माना गया। ओमप्रकाश का मानना है कि सभी अनार्यों को दास नहीं कहा जा सकता। अनार्यों में से कुछ स्वतन्त्र भी रहे होंगे। सम्भवत: जो अनार्य दास नहीं बनाये गये उन्हीं के लिए परवर्ती ग्रन्थों में शूद्र शब्द का प्रयोग किया गया है। ये शूद्र अपने गाँवों में खेती करते थे। वे पशु–पक्षियों का शिकार करके या मछली मारकर अपना निर्वाह करते थे। आर्य इन अनार्यों से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं करते थे।[5]

उत्तर वैदिक समाज : जाति व्यवस्था का कठोर होते जाना

उत्तर वैदिक काल (लगभग 1000 ई.पू. से 600 ई.पू. तक) जाति व्यवस्था के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण काल माना जा सकता है। इस समय की सामाजिक वास्तविकताओं के ज्ञान के लिए अथर्ववेद एक महत्त्वपूर्ण पाठ माना जाता है। अथर्ववेद को आर्य और अनार्य परम्पराओं के सम्मिलन का वेद भी कहा जाता है। अथर्ववेद में शूद्र और आर्य शब्द में विभेद किया गया है। कहा गया है कि सहस्राक्ष देवता यह तावीज़ (एमुलेट) हाथों में रखता है जिसकी सहायता से कोई व्यक्ति किसी भी आर्य और शूद्र को देख सकता है। यहाँ आर्य और शूद्र के बारे में स्पष्ट करते हुए ब्लूमफ़ील्ड ने माना है कि ये शब्द कुछ वैसे ही प्रयुक्त हुए हैं जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका में 'ब्लैक एण्ड व्हाइट' पदबन्ध को प्रयुक्त किया जाता है।[6]

उत्तर वैदिककाल में जाति सघन और व्यापक हुई। पश्चिमोत्तर भारत से सामाजिक भू–दृश्य गंगा घाटी की ओर खिसक आया। इस

प्रक्रिया को शतपथ ब्राह्मण के विदेघ माथव के आख्यान से स्पष्ट करने का प्रयास किया जाता रहा है। गौतम राहुगण को अग्नि को आगे ले जाते हुए जंगलों की सफाई करने वाले ऋषि के रूप में वर्णित किया गया है। इस समय की भौतिक संस्कृति पूर्ववर्ती युग से भिन्न थी। खेती का विकास हुआ। नयी फसलों के प्रसार से लोगों की प्रोटीन उपलब्धता बढ़ी। अब मांसाहार के साथ अनाज उपलब्ध हो गया। इससे जनसंख्या बढ़ी। बढ़ी जनसंख्या ने पुनः अधिशेष, नगरीकरण को बढ़ावा दिया। खेती पर क़ब्जा करने वाला वर्ग अस्तित्व में आया। खेतों में काम करने वाला वर्ग अस्तित्व में आया। इस कालखण्ड में पंजाब अंचल से उत्तर भारत की ओर 1000 ई.पू. के आसपास व्यापक परिवर्तन देखे जा सकते हैं। इस समय गेहूँ, जौ और धान की खेती होने लगी। खेत की जुताई, बीज बोना, फसल काटना और मड़ाई का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, तैत्तरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता और वासजनेयी संहिता से ज्ञात होता है कि कई-कई जोड़े बैलों वाले हल चलने लगे थे।[7] इसी के साथ इस युग के भौतिक प्रमाण चित्रित धूसर मृद्भाण्डों के रूप में देखे जा सकते हैं। नये प्रकार की कारीगरी उत्पन्न हो रही थी जिनकी लोगों के स्थायी दैनिक जीवन में बहुत माँग थी। वासजनेयी संहिता के अध्याय 30 में अठारह प्रकार के कारीगरों का उल्लेख मिलता है। ये हैं—कर्मार (लोहार), मणिकर (आभूषण निर्माता), इषुकार (बाण बनाने वाले), धनुकार (धनुष बनाने वाले), ज्याकार (धनुष की डोरी के निर्माता), रज्जुसर्ज (रस्सी तैयार करने वाले), सुराकार (मदिरा तैयार करने वाले), वासः पल्पूली (धोबी), रजयित्री (रंगरेज स्त्रियाँ), चर्मम्न (चर्मकार), हिरण्यकार (स्वर्णकार), धीवर (मल्लाह), हस्तिप (हाथी की देखभाल करने वाले, पीलवान), अश्वप (घोड़े की देखभाल करने वाले), गोपालक (गोरक्षक), सूत (अभिनय करने वाला), शैलूष (गायक), मृगयुमन्तक (व्याघ्र या शिकारी)।[8] भारत में जाति व्यवस्था का अध्ययन करने वाला कोई भी

विद्यार्थी इस सूची को देखकर बता सकता है कि इन शिल्पकारों को आगे चलकर एक पेशे में बँध जाना था जिन्हें शूद्र वर्ण से जोड़ा जाता है। इनके पेशे से जाति का निर्धारण हुआ।

अस्पृश्यता और बहिष्करण का आरम्भ

जैसा हम आगे देखेंगे कि इनमें से अधिकांश जातियाँ अस्पृश्य जातियाँ घोषित कर दी गयीं। वासजनेयी संहिता (16, 26, 28, 30, 5.13) तैत्तरीय ब्राह्मण में आयोगू, मगध (भाट), सूत, शैलूष (अभिनेता), रेभ, भीमल, रथकार, तक्षा, कौलाल, कर्मार, सुरकार, मणिकार, वप (नाई), इषुकार, धन्वकार, ज्याकार, रस्जुसर्ग का अपस्ताप (लोहा गलाने वाला), कितव (जुआरी), विदलकार और कण्टकीकार का उल्लेख पाया जाता है।[9] जैसा पी.वी. काणे का मानना है कि यह सभी नाम संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों के लिखे जाने के समय जाति सूचक थे। यद्यपि यह नाम व्यवसाय और शिल्प के सूचक हैं, किन्तु विशेषीकृत जातियों का निर्माण शुरू हो गया था। इसी स्थान पर यह कहना समीचीन होगा कि थोड़े से समय के बाद ही जातियों को 'अलग' से देखा जा रहा था। समाज के कर्मकाण्डीय पक्ष में जातियों को बहिष्कृत या स्वीकृत किया जाने लगा था। तैत्तरीय ब्राह्मण में रथकार को वर्षाकाल में ही यज्ञ करने को प्रतिबन्धित किया गया है (1,1,5)।

कुछ विशेष जातियों को हीन माना जाने लगा था। यहाँ तक जाति सूचक गालियों की शुरुआत इस चरण से हम मान सकते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (33,6) में उल्लेख है कि विश्वामित्र ने अपने पुत्रों को आज्ञा दी कि वे शुन:शेप को भाई मानें। पुत्रों ने उसकी आज्ञा नहीं मानी। विश्वामित्र ने अपने इन पुत्रों को शाप दिया कि वे सभी आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिब हो जाएँ। यह प्रकार से यह विश्वामित्र द्वारा अपने पुत्रों को अप्रतिष्ठित होने का शाप था। आधुनिक समाजशास्त्रीय

शब्दावली में कहें तो यह जाति की संरचना के 'नितान्त निजी परिसर' में दाखिल हो जाने का प्रमाण माना जा सकता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि समाज के रोजमर्रा के जीवन में न केवल जाति संस्था का अस्तित्व था बल्कि उसे एक विशेष श्रेणी मानकर लोगों को बहिष्कृत किया जा सकता था। इस समय की जाति व्यवस्था के बारे में एक सामान्य जानकारी उस सूची से प्राप्त की जा सकती है जिसे पी.वी. काणे ने अथर्ववेद, वासजनेयी संहिता, तैत्तरीय संहिता, काठक संहिता, तैत्तरीय ब्राह्मण, छान्दोग्य और वृहदारण्यक उपनिषद् के आधार पर तैयार की है। यह सूची विभिन्न व्यवसायों और शिल्पों से सम्बन्ध रखती है। अजापाल, चर्मम्न, भीमल, अन्ध्र, चण्डाल, अयस्ताप, जम्भक, मणिकार, आयोगू, ज्याकार, मागध, तक्षा, मार्गार, अविपाल (गड़रिया), दाश, मूतिब, आन्द, धनुषकार, मृगयु (शिकारी), इषुकार, धन्वाकार, राजयित्री, उग्र, धन्वकृत, रथकार, कण्टकीकार, धीवर, राजपुत्र, रेभ, कर्मार, निषाद, वंशनर्ती, वप (नाई), वासः पल्पुलि (धोबी), किवत, पुंश्चलु, विदलकारी या विदल, व्रात्य, किरात, शबर, पुंजिष्ठ, कीनाश (खेतिहर) पुण्ड, शैलूष, कुलाल, पुलिन्द, श्वनित, कैवर्त, पौल्कस, संगृहीता, कोशकारी, वैन्द (मछली पकड़ने वाला), सुराकार, क्षत्ता, सूत, सेलग, गोपाल, भिषक और हिरण्यकार।[10] उपर्युक्त सूची को ध्यान से देखें और इनका मौर्योत्तर काल के संस्कृत स्त्रोतों में पायी जाने वाली जातियों की सूची से मिलान करें तो कई रोचक जानकारियाँ मिलती हैं। इसमें से कुछ जातियाँ विलुप्त हो गयीं। कुछ वनों-अरण्यों में बनी रहीं, कुछ ने जमीनी इलाकों में अपने पेशे जारी रखे, कुछ पशुपालन और घुमन्तू जीवन की ओर मुड़ गयीं। विशेष और समान बात यह रही कि इनमें से अधिकांश को हीन और अस्पृश्य माना गया। कुछ जातियों ने एक ही तरह के पेशे अपनाये। धैवर या धीवर, निषाद या नैषाद, कैवर्त्त और वैन्द ने अपनी जीविका का आधार नदियों और झीलों-तालाबों के आसपास खोजे।

बहुत बाद में, आधुनिक समय में, इन जातियों को हम एक संगठित अस्मिता में संगठित होते देख सकते हैं, हालाँकि इस प्रक्रिया में जातियों का कई बार पुनरुत्पादन समाज और सत्ता करती रही है। इसी प्रकार धनुष बाण बनाने वाले, कुम्हार, बढ़ई, लोहार और रथकार ऐसी जातियाँ थीं जो द्वितीय नगरीकरण (600 ई.पू. के बाद) के पश्चात् उपजी सामाजिक और भौतिक वास्तविकताओं से उपजी थीं। फिर भी यहाँ स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि यदि यह जातियाँ सामाजिक और भौतिक वास्तविकताओं का प्रकटीकरण थीं तो अस्पृश्यता और बहिष्करण की क्या आवश्यकता थी? सामाजिक और कर्मकाण्डीय दायरों से इन जातियों को दूर रखा गया जबकि आर्थिक उत्पादन, समाज के लिए धन सम्पदा का निर्माण और भौतिक कार्यकलापों में यह जातियाँ गहन रूप से जुड़ी हुई थीं। आरम्भिक भारत का सामाजिक इतिहास लिखते समय यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है और इनके उत्तर खोजे जाने चाहिए।

पेशा, जाति और उनका कलंकीकरण

इससे पहले हम धर्मसूत्रों में वर्णित जातियों और पेशों की ओर बढ़ें, हमें बौद्ध एवं जैन धर्म ग्रन्थों में वर्णित जाति व्यवस्था की ओर देख लेना चाहिए। ऐसा कहा जाता है कि छठी शताब्दी ईसा पूर्व में प्रसारित हो रहे पन्थों ने आरम्भिक भारत की जाति संरचना को उदार एवम् मानवीय बनाया। अस्सलायण-सुत्त से ज्ञात होता है कि महात्मा बुद्ध के अनुयायियों में चर्चा हुई कि चारों वर्णों में कौन श्रेष्ठ है? यहाँ पर मनुष्यों के उत्पन्न होने की जैविक-सामाजिक चर्चा की गयी है और बताया गया है कि सभी मनुष्य बराबर हैं। चाण्डाल, निषाद, बंसोर/वेण, धोबी सब एक जैसे हैं।[11] अस्सलायण-सुत्त में यह विमर्श एक दार्शनिक पृष्ठभूमि में हुआ है। यहाँ प्रकट की गयी वास्तविकता के विपरीत इस समय के ऐतिहासिक अनुभव एक दूसरी कहानी कहते

हैं। इस समय विभिन्न पेशों को जाति से उसी प्रकार जोड़ा गया, जिस प्रकार उत्तर वैदिक काल में किया गया था। शिल्प या सिप्प को हीन और उक्कट्ठ (उत्कृष्ट) में विभाजित किया गया। कुल, कम्म और सिप्प (शिल्प, जीविका साधन) के सम्बन्धों को नये उच्चताक्रम में व्यवस्थित किया गया, जो वैदिक/उत्तर वैदिक उच्चताक्रम से भिन्न था। खत्रिय, बम्भन और गहपति उक्कट्ठ कुल में, उनका शिल्प / सिप्प लेख, गणना, मुद्रा उक्कट्ठ सिप्प था। कृषि, पशुपालन, वाणिज्य को उक्कट्ठ कम्म में गिना जाता था। इसके विपरीत चण्डाल, निषाद, वेण और पुक्कस हीन कुल थे। नलकार, कुम्भकार और नापित हीन सिप्प वाले समुदाय थे। जहाँ शारीरिक श्रम अधिक था, उन पेशों से जुड़े लोग 'हीन' कहे जाते थे। इन शिल्पों में लगे शिल्पियों के समुदाय निम्नलिखित थे : नरकुल की टोकरी, डलिया आदि बनाने वाले तलकार, कुम्भकार, पेशकार (जुलाहे), चम्मकार (चर्मकार) एवं नहापित (नाई)। बुनकर, बाँस का काम करने वाले, कुम्भकार एवं नापित के व्यवसायों को सामान्य शिल्पों के रूप में भी परिगणित किया गया है। इस प्रकार कुछ लोग उपर्युक्त हीन माने जाने वाले शिल्पों में से चर्मकार के शिल्प को अन्य को हेय दृष्टि से नहीं देखते थे। वास्तव में प्रारम्भिक पालि ग्रन्थों में प्रायः चण्डाल, निषाद आदि कुछ आदिवासी जनजातीय समुदायों के साथ, बाँस का काम करने वाले वेण एवं रथ बनाने वाले रथकार के प्रति हेय दृष्टिकोण देखा जा सकता है।[12]

वस्तुतः भेद रहित समाज संगठन की धारणा पालि-बौद्ध साहित्य में नहीं है। यहाँ पर चातुर्वर्ण व्यवस्था का विकल्प एक द्विस्तरीय (उच्च एवम् हीन) सामाजिक व्यवस्था की धारणा के रूप में मिलता है। निस्सन्देह बौद्ध धर्म का लक्ष्य था मानव को मुक्ति या निर्वाण का मार्ग दिखाना। जो लोग पुराने कबायली समाज के विघटन और निजी सम्पत्ति के प्रचलन से उत्पन्न हुई घोर सामाजिक असमानताओं को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे, उन्हें बौद्ध धर्म में कुछ राहत मिली। किन्तु

ऐसी राहत तो भिक्षुओं के लिए ही सम्भव थी। गृहस्थ अनुयायियों के लिए छुटकारे का कोई उपाय नहीं था। अतः उन्हें मौजूदा स्थिति से ही समझौता कर लेने का उपदेश दिया गया। इस मौजूदा स्थिति में शूद्रों की दशा सबसे दयनीय थी।[13] इस समूह में भी दीख पड़ने वाले विभाजन मौजूद थे। इसका प्रमाण हम पाणिनि की अष्टाध्यायी में पाते हैं। पाणिनि का समय 500 ईसा पूर्व के आसपास का माना जाता है। पाणिनि के समय शूद्रों की दो कोटियों का उल्लेख मिलता है। इनमें शामिल थे—निरवसित (नगर के बाहर रहने वाले) तथा अनिरवसित (नगर की सीमा में रहने वाले)। इनमें पहले प्रकार के शूद्र ही अस्पृश्य माने जाते थे। अनिरवसित (बहिष्कृत) शूद्र वे थे जिनको भोजन कराने से द्विजों के बरतन अपवित्र नहीं होते थे और निरवसित शूद्र वे थे जिनको अपने बरतनों में भोजन कराने से द्विजों के बरतन अपवित्र हो जाते थे। निरवसित शूद्र सम्भवतः निषाद आदि वे शूद्र थे जिनके रहन–सहन में अभिजातीय स्वच्छता न थी और जो नगर के बाहर रहते थे।[14] इस प्रकार बहिष्करण का एक भौगोलिक और सांस्कृतिक आधार रचा जाने लगा था। यह आधार भाषा और विद्यार्जन में उपस्थित था।

ईसा की आरम्भिक सहस्राब्दी में संस्कृत न केवल भाषा के स्तर पर अपनी विशिष्टता बनाये रखे हुए थी बल्कि इसे बोलने वाले समूहों के बीच एक स्पष्ट और असमान विभाजन अस्तित्व में था। संस्कृत न केवल कर्मकाण्ड से जुड़ी भाषा थी बल्कि इसमें व्याकरण, ध्वनि विज्ञान और छन्दशास्त्र का ज्ञान उपलब्ध था। वैदिक साहित्य संस्कृत भाषा में लिखा गया था। इसे समझने के लिए इस भाषा का ज्ञान आवश्यक था। इसे प्रयुक्त करने वाला समूह आर्यों या उच्च वर्गों का समूह था। इसी प्रकार इसके अध्ययन से अनार्य कहे जाने वाले वर्ग बहिष्कृत थे। इस व्यवस्था को दार्शनिक विमर्शों में वाद–विवाद का विषय बनाया गया कि क्या कोई शूद्र संस्कृत या वेद पढ़ सकता है? क्या वेदों का पढ़ना उसका अधिकार हो सकता है कि नहीं? इसे

'अपशूद्राधिकरण' कहा गया है। तीसरी–दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में लिखे गये जैमिनी के मीमांसा सूत्र से हमें संस्कृत के अध्ययन पर एक वर्ग विशेष का एकाधिकार दिखाई पड़ने लगता है। शेल्डन पोलॉक दिखाते हैं कि इस प्रकार भाषा के परिक्षेत्र से शूद्रों का बहिष्करण आरम्भ हो गया। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस समय तक समाज में उच्चताक्रम के निर्धारण में कर्मकाण्ड निर्णायक भूमिका निभाने लगते हैं। किसी भी प्रकार का कर्मकाण्ड एक आधारभूत योग्यता से शुरू होता है, उदाहरण के लिए किसी कर्मकाण्ड के लिए यदि किसी व्यक्ति का विवाहित होना अनिवार्य है तो उसे अविवाहित तो नहीं ही कर सकता है, इस प्रकार वह स्वतः ही इससे बहिष्कृत हो जाता है। वैदिक कर्मकाण्डों को निष्पादित करने के लिए संस्कृत भाषा एवं धन की आवश्यकता थी। वे संस्कृत पढ़ नहीं सकते थे।[15] धन की व्यवस्था कोई व्यक्ति यकायक तो कर सकता है लेकिन भाषा को तुरन्त अर्जित नहीं किया जा सकता है, इसलिए विभिन्न कर्मकाण्डों के भौतिक पक्षों से वे स्वतः बहिष्कृत हो जाते थे। जैसा हम आगे देखेंगे कि अपशूद्राधिकरण का विचार आने वाली शताब्दियों में विलुप्त नहीं हुआ बल्कि उस पर सामाजिक–दार्शनिक विमर्श होता रहा। दूसरी तरफ शिल्प और कलाओं की शिक्षा में संस्कृत भाषा की कोई बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं थी बल्कि उसमें अनुभव एवं बारीकियों की जानकारी चाहिए थी। उसमें शूद्र सबसे आगे रहे। वे ही इस सबके पीढ़ी दर पीढ़ी रक्षक थे। इस बात को प्रायः अतिशयोक्तिपूर्ण लहज़े में कहा जाता है कि संस्कृत, गणित और आयुर्वेद को ब्राह्मणों के एक वर्ग ने सदियों तक सुरक्षित रखा है लेकिन इस बात की बहुत कम पड़ताल की गयी कि एक सभ्यता के रूप में भारत का निर्माण शूद्रों ने किस प्रकार किया है? वे एक ही साथ बहिष्करण के शिकार थे और सृजन के केन्द्र में भी थे। किसी भी ऐतिहासिक कालखण्ड में उत्पादक गतिविधियाँ उनके बिना सम्भव न थीं। वास्तव में एक देश के रूप में भारत शूद्रों का ऋणी है जिन्होंने देश का पेट भरा, उसके

लिए पशु पाले, औषधियों का निर्माण किया, पशुओं का चमड़ा निकाला, उससे दस्ताने, कवच, मशक और नगाड़े बनाये।

जाति व्यवस्था का धर्मसूत्रीकरण और नियमबद्धता

कर्मकाण्डों के भौतिक और सामाजिक पक्ष के बारे में जानकारी के लिए धर्मसूत्र महत्त्वपूर्ण संस्कृत पाठ हैं। धर्मसूत्र वेदांग का हिस्सा हैं। कभी-कभी इनकी गणना वेदों के साथ की गयी है। इनकी संख्या छह है। यह हैं : शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। कल्प चार प्रकार के हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्बसूत्र। आरम्भिक भारत का सामाजिक इतिहास लेखन और उस युग के लोगों के दैनन्दिन जीवन की जानकारी के लिए श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र आवश्यक हैं। श्रौतसूत्र यज्ञविधि की जानकारी देते हैं। गृह्यसूत्र, गृहस्थाश्रम के कर्तव्य और अनुष्ठानों की जानकारी देते हैं। धर्मसूत्रों में चारों वर्णों के कर्तव्य, राजा के कर्तव्य, दायभाग, स्त्रियों के कर्तव्य और अधिकार, विधवाओं से जुड़े मुद्दों, संस्कार, प्रायश्चित और भक्ष्याभक्ष्य का उल्लेख मिलता है। इन्हीं को धर्मशास्त्र कहा जाता है। राधावल्लभ त्रिपाठी का मानना है कि आगे चलकर इनके आधार पर स्मृति ग्रन्थ लिखे गये। इसलिए स्मृतियों को पढ़ने से पहले धर्मसूत्रों को पढ़ना आवश्यक हो जाता है। हमारे पास बौधायन, गौतम, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी तथा वशिष्ठ के धर्मसूत्र उपलब्ध हैं। इन सबमें गौतम धर्मसूत्र सबसे प्राचीन माना गया है। इनका समय 600–500 ई.पू. के आसपास का माना जा सकता है।[16] कल्पसूत्रों में चातुर्वर्ण व्यवस्था का जो रूप मिलता है, उसे आदर्श माना गया। राजा से इस व्यवस्था के अनुरक्षण की आशा आने वाले युगों में सतत् रूप से की गयी। हालाँकि, राजा इसे करने में हमेशा कामयाब नहीं रह सकते थे लेकिन, कम से कम, सिद्धान्त के स्तर पर कल्पसूत्रों की सामाजिक व्यवस्था का आदर्श बना रहा।[17]

धर्मसूत्रों के अनुसार चार वर्ण थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। इन वर्णों की संरचना के भीतर विभिन्न जातियाँ थीं। विभिन्न पेशे वाले समूह अलग-अलग जातियों में चिह्नित किये गये थे। वर्ण का अर्थ रंग नहीं था, लेकिन कुछ जगहों पर वर्ण का अर्थ त्वचा के रंग (कलर) से लिया गया है। बौधायन और आपस्तम्ब के धर्मसूत्र शूद्रों को गहरे काले रंग वाले समुदाय के रूप में चित्रित करते हैं। रामगोपाल स्पष्ट करते हैं कि शूद्र एक 'जेनरिक टर्म' था। वे सभी जिनका उपनयन संस्कार नहीं होता था, जिन्हें वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था, वे शूद्र कहे जाते थे। कल्पसूत्रों में शूद्र वर्ण में शामिल विभिन्न जातियों का उल्लेख मिलता है।[18] ये जातियाँ हैं—आयोगव, उग्र, करण, चाण्डाल, धीवर, निषाद, दौष्यन्त, पारशव, पुल्कस, भृज्यकण्ठ, माहिष्य, मागध, यवन, विदेहक, वैण, वृषल, श्वपाक।[19]

धर्मसूत्रों में चार श्रेणियों में नियम बनाये गये हैं जो शूद्रों के दैनिक जीवन और सामाजिक-सांस्कृतिक दशाओं को प्रभावित करते थे—खान-पान, सामाजिक रीति-रिवाज से सम्बन्धित नियम; विवाह, यौन सम्बन्ध और दायभाग से सम्बन्धित नियम; अपराध से सम्बन्धित नियम; शिक्षा-संस्कार, धार्मिक कर्मकाण्डों से सम्बन्धित नियम। धर्मसूत्र स्नातकों के प्रतिदिन के जीवन के साथ उनके जीवन के बृहत्तर लक्ष्यों को निर्धारित करने का प्रयास करते हैं।[20] धर्मसूत्र समाज के अन्दर व्यक्ति और समष्टि के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध को व्याख्यायित करते हैं और वे व्यक्ति को अपनी जाति की पहचान को तोड़कर दूसरी जाति अपनाने को निषिद्ध करते हैं। इस व्यवस्था में व्यक्ति की स्वायत्तता उसकी जाति में सीमित कर दी जाती है। इस बात के पर्याप्त शास्त्रीय प्रमाण हैं कि यदि कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह दूसरी जाति की महिला/पुरुष से विवाह कर लेता था तो उसे उस दूसरी जाति का न मानकर तीसरी जाति की संरचना में शामिल कर दिया था। इस प्रकार जाति की संख्या बढ़ती जाती थी। संकर-वर्ण में इस प्रकार की जातियों की गणना इस बात की पुष्टि करती है।

स्मृतियों में इस जटिलता से बचने के लिए ही संकर-वर्ण का विचार आगे बढ़ाया गया। इसमें पेशे को जाति से जोड़ने में आसानी हो जाती थी और बहिष्करण के आधार पर बनायी गयी सामाजिक व्यवस्था के नष्ट होने की सम्भावना नहीं रहती थी। भारत में सदियों से इसी प्रकार जाति की संरचना कायम रही है।

औपचारिक शिक्षा सामाजिक वर्चस्व, राज्य के विस्तार और मूल्यों के स्थायित्व में सदैव परिणामदायी भूमिका अदा करती है। वह व्यक्तियों के माध्यम से समाज की संरचना में समाहित हो जाती है। इसलिए किसी भी समाज को परिवर्तित करने या रूप देने में शिक्षा की भूमिका पर जोर दिया जाता है। आरम्भिक भारत में शिक्षा पूरी तरह से राज्य नियन्त्रित नहीं थी लेकिन सामाजिक संरचनाओं को प्रभावित करने की इसकी शक्ति से इनकार नहीं किया जा सकता है। औपचारिक शिक्षा ने उस युग के मूल्य बनाये। आरम्भिक भारत की शिक्षा पद्धति के आश्रम जीवन में धर्म सूत्रों का व्यापक महत्त्व स्वीकार किया गया था। यह एक प्रकार से विद्यार्थियों के लिए बाध्यकारी थे। उनसे अपेक्षा की गयी थी वैदिक मन्त्रों के पाठ को पवित्र मानते हुए उसका यहाँ-वहाँ वाचन न करें। न बाजार में, न श्मशान में वेद का पाठ करना चाहिए। जहाँ पर शूद्र और अंत्यज उपस्थित हों, वहाँ भी वेद का पाठ नहीं करना चाहिए।[21] उस गाँव में भी वेद पाठ स्थगित कर देना चाहिए जहाँ कोई शव पड़ा हो या चाण्डाल का घर हो। ब्राह्मण से अपेक्षा की गयी थी कि कुत्तों और नीच व्यक्तियों के द्वारा स्पर्श की गयी यज्ञ सामग्री को प्रयुक्त न करे। शूद्रों के बीच और सियारों की आवाज़ के बीच वेदपाठ नहीं करना चाहिए।[22] रथकार से स्नातक बिना पकाया भोजन, अन्न आदि वस्तुएँ ले सकता था लेकिन शूद्र वर्ग में शामिल अन्य जातियों से ऐसा करने की छूट नहीं थी। शूद्र के हाथ से जल ग्रहण करने की मनाही थी। यदि किसी शूद्र से जल ग्रहण भी कर लें तो स्नातक को एक सौ बार सावित्री मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए।[23] ऐसा शारीरिक शुद्धता, अस्पृश्यता और उच्चताक्रम के ऊपर

जोर देने के कारण था। वास्तव में शरीर को लेकर एक व्यापक दृष्टिकोण धर्मसूत्रों में दिखाई पड़ता है। एक ही साथ यहाँ मनुष्य का शरीर विभिन्न अवसरों पर अपवित्र हो उठता था तो उससे दूरी बनाये रखने का आग्रह जाति व्यवस्था में स्पष्ट रेखाएँ खींच देता था।

अस्पृश्यता के विचार के उद्भव ने स्थायी और अस्थायी बहिष्करण को जन्म दिया। महिलाओं को अस्थायी बहिष्करण का सामना करना पड़ा, विशेषकर द्विज महिलाओं को। गैर-द्विज महिला को तो दो बार बहिष्करण का सामना करना पड़ता था, एक बार महिला होने पर और दुबारा गैर-द्विज होने पर स्थायी रूप से। ऋतुस्राव से उपजे अस्पृश्यता के विचार ने इसे बढ़ावा दिया। तैत्तरीय संहिता में ऋतुस्राव को महिलाओं की अपवित्रता से जोड़ा गया। उन्हें एक छोटी सी अवधि के लिए अपवित्र माना गया। इसने आने वाली शताब्दियों में महिलाओं को अस्पृश्य बनाया। वे यज्ञ में भी भाग नहीं ले सकती थीं। कहा गया कि इन्द्र ने विश्वरूप का वध किया, उसपर ब्राह्मण हत्या का पाप लगा। इस पाप का एक-तिहाई भाग स्त्रियों के हिस्से कर दिया गया। मासिक रक्तस्राव उस पाप का प्रकटीकरण है।[24] पाप के इस अंक-गणितीय बोध और उससे जुड़ी पवित्रता ने देश के विभिन्न हिस्सों और समुदायों में स्त्रियों को अभी तक अपवित्र बनाये रखा है।

मानव शव को अपवित्र माना गया। शूद्र वर्ण में शामिल जातियों के शरीर को अपवित्र माना गया। इस प्रकार शरीर से अस्पृश्यता को जोड़ दिया गया। अस्पृश्यता एक विचार से आगे जाते हुए शरीर में केन्द्रित हो गयी जिसने इस मनो-सांस्कृतिक विचार को समाज में गहरे तक आगे बढ़ाया। बौधायन के धर्मसूत्र में शरीर को आन्तरिक एवं बाह्य रूप से स्वच्छ करने पर जोर दिया गया है। कहा गया है कि शरीर को जल स्वच्छ रखता है, ज्ञान समझ को स्वच्छ रखता है। दूसरों को हिंसा न पहुँचाकर अपने अन्तरात्मा को स्वच्छ किया जाता है। सत्य मस्तिष्क को साफ़ करता है।[25] स्वच्छता के ऊपर इस दार्शनिक

आग्रह में असमानता की बात नहीं है लेकिन जब हम थोड़ा और आगे बढ़ते है तो पाते हैं कि स्वच्छता के प्रतिमान वर्णों के अनुसार अलग-अलग थे, स्वच्छ जल पीने के लिए अलग नियम थे। ब्राह्मण को हृदय तक जल उतार लेना चाहिए जबकि शूद्र एवं महिलाओं को केवल ओंठों से स्पर्श कर लेना चाहिए।[26] सूत्रों के समय शूद्र अस्पृश्यों के वर्ग का प्रायः निर्माण नहीं करते थे। शूद्र न केवल घरेलू सेवकों के रूप में नियुक्त किये जाते थे बल्कि वे रसोइए का काम करते थे[27] लेकिन इसे एक सामान्य सामाजिक सत्य मानना उचित नहीं होगा। हाँ, हमें इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि कालान्तर में अस्पृश्यता और बढ़ी। जैसा हम पूर्व मध्यकाल से सम्बन्धित विवरण में देखेंगे तो पाएँगे कि कलिवर्ज्यों की सूची में यह भी जोड़ दिया गया कि शूद्र रसोइए से भोजन बनवाना भी कलिवर्ज्य है।[28] कलिवर्ज्य वस्तुतः धर्मशास्त्रीय नियमों, वर्णों के लिए विहित आचरणों और उससे उपजी नैतिक व्यवस्था से विपथन का एक वर्गीकरण था। सामाजिक नियमों में जो थोड़ी-बहुत ढील दी गयी थी, वह एक बार फिर से कसी जाने लगी। निबन्धों और स्मृतियों को पुनर्संयोजित किया जाने लगा। इस प्रकार शूद्रों को भोजन के आधार पर बहिष्कृत और कलंकित करने का एक और आधार सृजित हो गया जिसने आने वाली शताब्दियों में उनका मानसिक दलन किया।

न्याय और विधि व्यवस्था के क्षेत्र में धर्मसूत्र कदाचित सबसे प्रभावी पाठ रहे हैं। पढ़ा-लिखा समूह राज्य में न्यायालयीय कार्यों में संलग्न होता था। इन पाठों का प्रभाव परम्परा के रूप में भी लिया जाता था।[29] यह लिखित और प्रायः मौखिक परम्परा न्याय एवं विधि के क्षेत्र में वर्णों के अनुसार विभेदकारी थी। चोरी, हत्या, आक्रमण के अपराध में शूद्रों को ज्यादा सजा मिलती थी। व्यभिचार के मामले में या रक्त शुद्धता और शीलभंग के मामले में ब्राह्मण सहित अन्य उच्च्च वर्गों को थोड़ी सी राहत थी। व्यभिचार और बलात्कार घृणित अपराध माने जाते थे। यदि कोई शूद्र पुरुष किसी द्विज महिला के साथ आपराधिक

कृत्य का सम्भोग करता था तो उसके जननांग काटकर उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी। यदि कोई शूद्र ऐसी द्विज महिला के साथ उक्त कार्य करता था, जिसकी रक्षा का भार उसे दिया जाता था, तो उसे मृत्युदण्ड का भागी होना पड़ता था। आपस्तम्ब का मानना है कि यदि द्विज वर्ण का कोई पुरुष शूद्र महिला के साथ व्यभिचार करता है तो उसका परित्याग कर दिया जाना चाहिए। यदि शूद्र पुरुष किसी द्विज वर्ण की महिला से व्यभिचार करे तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाना चाहिए।[30] बौधायन ने व्यभिचार के लिए कड़े दण्ड का प्रावधान किया है। यदि कोई द्विज महिला अपने पति के प्रति आस्थावान नहीं है और वह किसी शूद्र पुरुष की ओर आकर्षित है तो उसे चन्द्रायण व्रत करना चाहिए। यदि कोई ब्राह्मण पुरुष किसी शूद्र महिला के प्रति अनुरागी है तो उसे एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए। यदि यह अपराध कोई शूद्र पुरुष करे तो उसे भूसे की आग में जीवित जला देना चाहिए।[31] ब्राह्मण के अतिरिक्त सभी व्यक्ति व्यभिचार करने पर मृत्युदण्ड के भागी थे।[32] बौधायन महिलाओं को व्यभिचार से मुक्ति देते हैं और कहते हैं कि चन्द्रमा उन्हें पवित्रता प्रदान करता है।[33] स्पष्ट है कि न्याय व्यवस्था ब्राह्मणों के पक्ष में भयंकर रूप से झुकी थी।

राज्य की शारीरिकी में जाति

मौर्यकाल में राज्य मज़बूत हुआ। समाज पर राज्य का वर्चस्व बढ़ा। विभिन्न जातियाँ राज्य की सीधी नज़र में आ गयीं। इसे थोड़ा स्पष्ट करें तो कहा जाना चाहिए कि समाज में हो रही किसी भी प्रकार की गतिविधि एवं उत्पादन पर राज्य की नज़र थी। वह एक ही साथ राजस्व को प्राप्त कर अपने को मज़बूत कर रहा था तो दूसरी ओर विभिन्न पेशों, सामाजिक अधिवासों एवं सम्बन्धों पर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयास कर रहा था। ऐसा कोई समूह नहीं बचा जिस पर राज्य ने कर न लगाया हो या उस पर कर का प्रभाव न पड़ा

हो। प्रथम दृष्टया ऐसा लग सकता है कि अर्थशास्त्र की चिन्ता का विषय उस समय की जाति व्यवस्था नहीं है लेकिन अर्थशास्त्र की एक गहन पड़ताल यह बताती है कि राज्य ने भूमि और वनों में रहने वाली जातियों में अन्तर करना आरम्भ कर दिया था। इस समय एक नये प्रकार का राजनीतिक, आर्थिक और वैचारिक वर्चस्व वन में रहने वाली जातियों पर थोपा गया और उन्हें राज्य की वृहत्तर संरचनाओं में लाने का प्रयास किया गया। वनों में रहने वाले समूह एक आदर्श 'जनपद' का अंग नहीं माने गये।[34]

मुख्य भूमि पर रहने वाले परिधीय समूहों या शूद्रों के लिए राज्य ने एक दूसरा दृष्टिकोण अपनाया। 'अर्थशास्त्र' में कहा गया है कि राज्य को जनपद की आबादी को बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। अर्थशास्त्र के जनपद निवेश प्रकरण में जनपदों की स्थापना में शूद्रों को महत्त्व दिया गया है। कहा गया कि प्रत्येक जनपद में कम से कम सौ घर और अधिक से अधिक पाँच सौ घर वाले ऐसे गाँव बसाये जाएँ जिसमें प्राय: शूद्र और किसान अधिक हों। अर्थशास्त्र में यह वर्णन जनपद निवेश में मिलता है।[35] जनपद राज्य के सप्तांग सिद्धान्त में राज्य का एक प्रमुख अंग (ऑर्गन) था। स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र—यह सात प्रकृतियाँ जनपद की संरचना करती थीं। इस प्रकार शूद्रों का होना राज्य की शारीरिकी में समाहित था।[36] शूद्र और किसानों की अधिक संख्या राज्य को श्रम और अनाज की अबाध उपलब्धता कराती थी। कौटिल्य की एक स्थायी राज्य की संरचना का 'जनपद' वास्तव में इन घटकों के बिना पूरा न हो पाता। इसलिए अर्थशास्त्र को पढ़ते हुए किसी को भी लग सकता है कि यह जाति के प्रश्न पर कुछ नहीं कहता है लेकिन जाति को राज्य के ढाँचे के अन्दर समाहित कर देने वाला ग्रन्थ माना जा सकता है।

मौर्यकाल में राज्य की ओर से शूद्रों को बड़े पैमाने पर गुलाम, मजदूर और शिल्पी के रूप में नियोजित किया गया था। यद्यपि इनकी मजदूरी निर्धारित थी, फिर भी इनकी आर्थिक दशा संकटपूर्ण

थी। चूँकि राज्य की ओर से की जाने वाली खेती के लिए दास और कर्मकार उपलब्ध नहीं थे, इसलिए यह आवश्यक समझा गया कि राजकीय भूमि बटाईदारों को पट्टे पर दी जाए। राम शरण शर्मा का मानना है कि राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में शूद्रों के प्रति पुराना भेदभाव बना रहा, किन्तु ऐसा लगता है कि कौटिल्य ने उच्च वर्गों के लोगों के शूद्र पुत्रों को अनेक रियायतें दी थीं। वे दास नहीं बनाये जा सकते थे, उन्हें पैतृक सम्पत्ति में हिस्सा मिल सकता था और विशेष परिस्थितियों में वे वैदिक यज्ञ और वेदाध्ययन के अधिकारी हो सकते थे किन्तु अधिकांश शूद्रों की पुरानी अशक्तताएँ बनी रहीं।[37]

राज्य की आर्थिक व्यवस्था में उनका योगदान था। इस वर्ग की आर्थिक महत्ता को राज्य द्वारा मानने के बावजूद अर्थशास्त्र से हमें ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता है जिससे पता चले कि राज्य या समाज का दृष्टिकोण उनके प्रति उदार हुआ हो। इस समय भारत आने वाले यूनानी यात्री मेगास्थनीज ने इस बात को नोट नहीं किया है। अपने पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती विदेशी यात्रियों की तरह उसने भारतीय समाज को अपने मूलदेश की सामाजिक व्यवस्थाओं के आलोक में देखा। मेगास्थनीज के भारत वर्णन में सात जातियों का उल्लेख है जो वास्तव में जातियाँ न होकर इस प्रकार के काम करने वाले समूहों के बारे में हैं, जैसे दार्शनिक, कृषक, गड़रिये, शिल्पकार, सैनिक, पर्यवेक्षक और कर लेने वाले। पहले के कालों की भाँति मौर्य काल में शूद्रों को विद्या से हीन रखा गया। खेती-किसानी बढ़ रही थी, अतः शारीरिक श्रम करने वाले और ताबेदारी करने वाले वर्ग के रूप में उन्हें द्विज जातियों की सेवा-टहल के लिए आदेशित किया गया। त्रयी (ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद) की स्थापना वाले प्रकरण में बताया गया है कि चारों वर्णों को क्या करना चाहिए। ब्राह्मण का धर्म अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ-याजन, दान लेना और दान देना है। क्षत्रिय का धर्म है पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, शस्त्रबल से जीविकोपार्जन करना और प्राणियों की रक्षा करना। वैश्य से अपेक्षा की गयी कि वह अध्ययन

करे, यज्ञ करे, दान दे, खेती, पशुपालन और व्यापार करे। शूद्र उपर्युक्त तीनों वर्णों की शुश्रूषा करे। उससे शिल्प, गायन, वादन, चारण, भाट आदि का कार्य करने की अपेक्षा की गयी—शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषा वार्ता कारूकुलशीलवकर्म च।[38] इस प्रकार वैदिक संहिताओं में वर्णित कारूकर्म और शिल्प को शूद्रवर्ण के कार्यों से जोड़कर उसको राज्य से नैतिक समर्थन का काम मौर्यकाल में पूरा हो जाता है।

राज्य अपने नागरिकों के प्रतिदिन के व्यवहार और सामाजिक मान्यताओं को अपने दायरे में लाकर अपने 'औचित्य का पुनर्प्रतिपादन' करता रहता है। अर्थशास्त्र में सम्पत्ति में हिस्से और उसके वितरण के बारे में पर्याप्त लिखा गया है। दाय विभाग को राज्य की उत्पत्ति से लेकर आधुनिक समयों में राज्य के नियम-कानून विनियमित करते रहे हैं। इस विनियम में यह ध्यान रखा गया कि समाज का प्रभुत्वशाली वर्ग राज्य के ही विरोध में न खड़ा हो जाए। इसलिए दायभाग में उन नियमों को बनाया गया, जो राज्य और प्रभुत्वशाली वर्गों के सम्बन्ध को बनाये रखने में सहायता प्रदान करे। अर्थशास्त्र के दाय विभाग के प्रकरणों में विभिन्न जातियों के बीच समागम से उत्पन्न पुत्रों के बारे में बताया गया है। इसे मनुस्मृति और अन्य स्मृतियों के साथ रखकर देखा जा सकता है।

जाति की नवीन वास्तविकताएँ एवं रूपान्तरण

मौर्योत्तर काल की सामाजिक संरचना के अध्ययन के लिए मिलिन्द प्रश्न या मिलिन्दपंह एक महत्त्वपूर्ण पाठ है। यह भिक्षु नागसेन और यवन राजा मिनाण्डर के बीच एक दार्शनिक संवाद है। इसमें विभिन्न पेशों के बारे में जानकारी मिलती है। इसमें कुछ पेशे शहरों में केन्द्रित थे तो कुछ गाँवों में। इसका एक परिच्छेद ध्यान देने योग्य है। कहा गया है कि रसोइए, नाई, स्नान के समय उपस्थित रहने वाले लोग, सोना, चाँदी, ताम्बा, लोहा आदि के कारीगर, दूत, कुम्हार, नमक खोदने

वाले, चमड़े की रँगाई करने वाले, पालकी ढोने वाले, हाथी दन्तकार, रस्सी बटने वाले, कंघी बनाने वाले, सूती धागे बनाने वाले, टोकरी बनाने वाले, धनुष बनाने वाले, तीर पर सान रखने वाले, चित्रकार, रंग बनाने वाले, रंगसाज, जुलाहे, दर्जी, तार खींचने वाले, वस्त्र व्यापारी, इत्र के विक्रेता, घास काटने वाले, पेड़ों की छाल निकालने वाले, भात बेचने वाले, मछली पकड़ने वाले, कसाई, तेज स्वाद के द्रव बेचने वाले, नाटक में काम करने वाले, नर्तक, नट-बाज़ीगर, पेशेवर गवैये, पहलवान, शव जलाने वाले, सड़े हुए पुष्प उठाने वाले-पुपच्छादक, सफाई करने वाले-वेण, जंगलों में रहने वाले, वेश्याएँ, कलाबाज़ी का प्रदर्शन करने वाले, दासी लड़कियाँ... विभिन्न देशों और क्षेत्रों के लोग शहर में आते थे। जहाँ पर उन्हें एक स्थायी त्रुटिविहीन, परिपूर्ण और सुखद शहर की आशा होती थी। इस प्रकार मिलिन्द प्रश्न या मिलिन्दपंह शहरों की ओर ग्रामीण कारीगर समुदायों के आकर्षण को तो बताता ही है, यह उस समय की वैविध्यपूर्ण सामाजिक संरचना की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करता है। यह जातियों की संरचना और उनके पेशों के बारे में अध्ययन करने का यह एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। यह वैश्यों के साथ शूद्रों को खेती, व्यापार और पशुपालन के काम में संलग्न दिखाता है।[39] जैसा हम पूर्वमध्यकाल में पाते हैं, शूद्रों का खेती, व्यापार और पशुपालन करना एक सामान्य बात हो गयी थी। उपर्युक्त सूची को ध्यान से देखें तो पाएँगे कि इस सूची में बाँस का काम करने वाले शिल्पियों और कारीगरों का एक बड़ा समूह शामिल है जैसे टोकरी बनाने वाले, धनुष बनाने वाले और वेण। यद्यपि वेण का काम यहाँ सफाई करने वाला बताया गया है लेकिन इसके पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य में उनका उल्लेख बाँस का, काम करने वाले समुदाय के रूप में उनका उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार यहाँ हम मछली मारने वालों को देख सकते हैं जो सुख की चाह में शहर की ओर आ रहे हैं। थेरीगाथा में पुष्पाच्छादक को हीनतम पेशों में गिना गया है।[40]

मौर्योत्तर काल में नयी सामाजिक वास्तविकताएँ अस्तित्व में

आयीं। समाज व्यवस्था जटिल हुई। शासकवर्ग में नयी जातियाँ शामिल हुईं। भारतीय उपमहाद्वीप में बाहर से आए समूहों को शामिल किया गया। जाति व्यवस्था भी इससे अछूती न थी। शक, कुषाण, हिन्द-यवन जैसे नये शासक वर्ग शामिल हुए। शकों ने अपने आपको ब्राह्मणीय परम्पराओं से जोड़कर भारतीय उपमहाद्वीप के एक बड़े हिस्से में अपने को सर्वस्वीकार्य बनाया तो कुषाणों ने बौद्ध तथा भारत के अन्य ब्राह्मणीय मतों के देवी-देवताओं को वरीयता दी। हिन्द-यवनों ने रोमन, बौद्ध और ब्राह्मणीय परम्परा को महत्त्व दिया। इसके साथ शासक वर्ग ने भारतीय समाज व्यवस्था की मूल संरचना में कोई हस्तक्षेप न करने का निर्णय लिया। शक क्षत्रप रुद्रदामन ने जूनागढ़-अभिलेख में न केवल संस्कृत भाषा को बढ़ावा दिया बल्कि वह भारतीय समाज व्यवस्था में अपने आपको सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण कहने में गौरव व महसूस करता है।

मौर्योत्तर काल में शहरीकरण भी बढ़ा। नये प्रकार के शिल्प अस्तित्व में आए। पेशेगत दक्षता के प्रसार ने जातियों की संख्या फिर बढ़ाई होगी। शहरों की ओर विभिन्न प्रकार के पेशों को अपनाने वाले लोग आने लगे। इसका सुन्दर वर्णन मिलिन्द प्रश्न या मिलिन्दपंहो में मिलता है। मिलिन्दपंहो में पचहत्तर व्यवसायों की गणना की गयी है जिसमें साठ विविध प्रकार के शिल्पों से जुड़े हुए थे। फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि इस पाठ की रचना विभिन्न समयों में की गयी है। इसकी अन्तिम सीमा विद्वानों ने 200 ई.पू. स्वीकार की है।[41] मनुस्मृति में शूद्रों के बारे में जो विवरण मिलते हैं, वे मूलतः तीन प्रकार हैं। प्रथम, विभिन्न स्थलों पर बताया गया है कि वे किन गतिविधियों में भाग नहीं ले सकते हैं। किन जातियों से एक नयी जाति बनती है और उनका पेशा क्या है। इन विवरणों को एक साथ मिलाकर पढ़ें तो हम देखेंगे कि शूद्र/संकर वर्ण/ अंत्यज आर्थिक गतिविधियों में संलग्न हैं। कुछ विद्वानों ने गुप्तकाल के स्थान पर कुषाण काल को स्वर्णकाल मानने का सुझाव दिया है। इस पर विमर्श करने की बजाय हम कहना

चाहते हैं कि इस काल में एक तरफ शूद्र वर्ण में शामिल जातियों ने देश के लिए धन–समृद्धि का सृजन किया तो दूसरी ओर उनके ऊपर कठोर वर्जनाएँ भी लादी गयीं। दास प्रथा पर देवराज चानना का काम दिखाता है कि धन उत्पादन के क्षेत्र में उनका योगदान था।[42] उच्चवर्गीय या द्विज जातियाँ दास नहीं बनायी जाती थीं। शूद्र बनाये जाते थे। मनुस्मृति में कहा गया है कि खरीदे गये और नहीं खरीदे गये शूद्र का काम दास्य कर्म करना है। उसकी सृष्टि ही इसीलिए की गयी है (मनुस्मृति 8, 413)। दासों की मुक्ति के लिए नियम बनाये गये थे लेकिन यह भी कहा गया कि स्वामी से मुक्त किया गया शूद्र भी दास कर्म से मुक्त नहीं हो सकता है। दास होना उसका स्वभाव है। स्वाभाविक दास्य को कौन हटा सकता है? (मनुस्मृति 8, 414)।

इसी के साथ पढ़े–लिखे लोगों—स्नातकों से अपेक्षा की गयी थी कि वे शूद्रों के साथ यात्रा न करें। धर्मसूत्रों और स्मृतियों में स्नातकों के लिए निर्देश हैं। इसलिए प्रचलित व्यवहार में बहिष्करण ज्यादा प्रभावी हो जाता रहा होगा। दण्डविधान में शूद्रों के साथ मनुस्मृति न केवल भेदभाव करती है बल्कि शूद्रों को पशुओं और पक्षियों के समतुल्य कर देती है। इस प्रकार मनुस्मृति में समाज का एक बड़ा हिस्सा मनुष्यों से कम लेकिन पशुओं से ज्यादा नजदीक वर्णित किया गया है। शूद्र वर्ण में शामिल कई जातियों को आज भी उन पशुओं के आधार पर हेय दृष्टि से देखा जाता है जिन्हें वे पालते हैं। सुअर पालने वाले समुदायों को सामाजिक रूप से हीन मान लेने की प्रथा और मनोभावना आज भी बनी हुई है। मनुस्मृति का अध्याय ग्यारह चारों वर्णों के लिए दण्ड विधान की चर्चा करता है। हड्डी वाले एक हजार छोटे प्राणियों को मारने पर अथवा एक गाड़ीभर हड्डी से रहित छोटे प्राणियों को मारने पर ब्राह्मण शूद्र हत्या में किये जाने वाले व्रत करने का विधान किया गया है (मनुस्मृति 11,130)। यह दृष्टिकोण आगे भी जारी रहा, जैसा हम गुप्तकाल से सम्बन्धित चर्चा में देखेंगे। यह निश्चित है आरम्भिक भारत में मनुस्मृति कोई समरूप धार्मिक या

विधिक रचना नहीं थी और न ही इसका एकमात्र प्रभाव था। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि मनुस्मृति के बाद लिखे जाने वाले ग्रन्थों पर इस ग्रन्थ की छाया विद्यमान रही।[43] इसको सार रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है : मनुस्मृति में 6 अनुलोम, 6 प्रतिलोम एवं 20 मिश्रित जातियों के साथ 23 व्यवसायों की चर्चा है। याज्ञवल्क्य स्मृति में चार वर्णों के अतिरिक्त 13 अन्य जातियों का उल्लेख है। उशना ने 40 जातियों एवं उनके विलक्षण व्यवसायों की चर्चा की है। सभी स्मृतियों की तालिका देखने पर लगभग 100 जातियों के नाम प्रकट हो जाते हैं। ईसा पूर्व 500 से ईस्वी सन् 1000 तक के सभी जातियों स्मृतियों तथा अन्य धर्मशास्त्रों में वर्णित जातियों की संख्या 155 के आसपास होगी।[44]

गुप्त काल में जाति व्यवस्था के विरोधाभास : बहिष्करण एवं समावेशन

मौर्योत्तर काल में भारत की सामाजिक संरचना और उसमें निहित तनाव गुप्त युग (300 ईस्वी सन् से 550 ईस्वी सन्) में एक-दूसरे चरण में प्रवेश पाते हैं। इस युग में जीवन के कुछ क्षेत्रों में अस्पृश्यता आदि की नवीन श्रेणियाँ बनीं तो वे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के कुछ क्षेत्रों में प्रवेश पाने लगे। इस काल में शूद्रों की स्थिति में थोड़े से सुधार के संकेत मिलते हैं। अब उन्हें रामायण, महाभारत और पुराण सुनने का अधिकार मिल गया। अब वे कृष्ण की पूजा कर सकते थे। इसका कारण यह बताया गया है कि शूद्रों की पहचान अब कृषक के रूप में होने लगी थी जिनसे पुरोहित दक्षिणा प्राप्त करने लगे थे।[45] इस युग में शूद्रों की दशा में सुधार आने के साथ-साथ कामगार वर्गों के जीवन वर्गों में भी कुछ प्रगति देखी गयी। दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी ने अमरकोश में कामगार वर्ग की स्थिति की पड़ताल करते हुए इसे रेखांकित किया है। उन्होंने अमरकोश में वर्णित आर्थिक व्यवस्था

और सामाजिक उच्चताक्रम के बीच विकसित हुए सम्बन्धों की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित किया है।[46] अमरकोश में जिन शिल्पियों का उल्लेख मिलता है, उन्हें कोसम्बी ने दो भागों में बाँटा हैं एक वे जो शहरों में केन्द्रित थे, दूसरे वे ग्रामीण संरचना के भाग थे। माला बनाने वाले, कुम्हार, राजमिस्त्री, बुनकर, दर्जी, चित्रकार, हथियारों पर धार रखने वाले, मोची और चर्मकार, लुहार। अमरकोश में शूद्र शब्द की विभिन्न अर्थच्छवियाँ देख सकते हैं। पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में लिखे गये इस शब्दकोश में शब्दों को 25 वर्गों में बाँटा गया है। इसका बीसवाँ वर्ग शूद्र वर्ग है। यहाँ शूद्रों को जघन्या कहा गया है। शूद्रों के चार नाम दिये गये हैं : शूद्र, अवरवर्ण, वृषल, जघन्यज। अमरकोश के इस वर्ग में संकर वर्णों की सूची, उनके काम आदि के बारे पर्याप्त लिखा गया है।[47] गुप्तकाल के अन्तिम दौर में विष्णु स्मृति संकलित की गयी। इसमें भी संकर वर्ण में परिगणित जातियों की सूची और पेशों के बारे में विस्तार से चर्चा मिलती है।[48]

गुप्त काल के बाद के युग को पूर्व मध्यकाल कहा जाता है। पूर्व मध्यकाल में शूद्र जातियों की संख्या में वृद्धि हुई। इसमें ऐसे शूद्रों की संख्या में वृद्धि हुई जिन्हें असत् शूद्रों की संख्या ज्यादा थी।[49] ऐसे शूद्रों को पाणिनि ने निरवसित शूद्र कहा है। निरवसित शूद्र वे थे जिनको अपने बरतनों में भोजन कराने से द्विजों के बरतन अपवित्र हो जाते थे। ऐसी जातियों में शामिल थे बराट, बरूड, भेद, चण्डाल, चर्मकार, दाश, नट, रजक आदि। राम शरण शर्मा का मानना है कि शूद्र जातियों की संख्या में वृद्धि का बड़ा कारण यह भी था कि कई शिल्पों ने जातियों का रूप धारण कर लिया। इस समय व्यापार-वाणिज्य में भी कमी आ रही थी। सामाजिक संरचना में स्थानबद्धता आ रही थी। इसे हम इस प्रकार से भी समझ सकते हैं कि जब शूद्रों की संख्या में वृद्धि हो रही थी तो उन्हें पुराने बसे ग्रामों से बाहर बसाया जा रहा था या नयी जगहों पर वे स्वयं बस रहे थे। इन जगहों में परित्यक्त जगहें भी होती थीं। यह एक प्रकार से सामाजिक संरचना का सांस्कृतिक

अधिवासीकरण था जिसमें शूद्रों को बाहर बसाया गया अथवा उन्हें बाहर बसने के लिए बाध्य होना पड़ा। फाह्यान के बहुप्रचलित वर्णन को ध्यान में रखते हुए हम ऐसा सोच सकते हैं जब शूद्रों की छाया को अस्पृश्य माना गया और उन्हें अपनी उपस्थिति के सूचक के रूप में मार्गों पर छड़ी पीटते हुए चलना पड़ता था।[50] फाह्यान के बाद जिस विदेशी यात्री ने भारत की सामाजिक व्यवस्था के बारे में लिखा उसमें अलबेरूनी का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। उसने 'हिन्दू वर्ण व्यवस्था और उसमें भी निम्नतर वर्गों' के बारे में अपना विवरण लिखा। अलबेरूनी ने भारत की चातुर्वर्ण सामाजिक व्यवस्था की ईरान में प्रचलित चार वर्गों से तुलना की। जिस बात की ओर वह अपने पाठक का ध्यान आकर्षित करना चाहता है वह है इस चार वर्ण की संरचना के बाहर के लोगों की दशा। वह बताता है कि शूद्रों के बाद वे लोग आते हैं जो अंत्यज कहलाते हैं।[51]

जाति व्यवस्था, वेदाध्ययन और कलिवर्ज्य

शंकर ने पूर्व मध्यकाल में दार्शनिक वाद-विवाद की परम्परा को आगे बढ़ाया जिसमें उनके द्वारा लिखित ब्रह्मसूत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में अपशूद्राधिकरण पर विचार किया है। इसमें वे अपना विचार प्रस्तुत करने के बाद कहते हैं कि शूद्र को विद्या का अधिकार मात्र इस आधार पर नहीं हो जाता है कि उसकी विद्यार्जन में जिज्ञासा है। यहाँ शंकर छान्दोग्य उपनिषद् में आयी जानुश्रुति पौत्रायण तथा सत्यकाम जाबाल की कथा के द्वारा अपनी तर्क पद्धति को आगे बढ़ाते हैं। शंकर के द्वारा अपशूद्राधिकरण की इस चर्चा को अनन्य वाजपेयी ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में देखती हैं। उनका लेख 'द शूद्रा इन हिस्ट्री : फ्राम स्क्रिप्चर टू सेग्रेगेशन' इस बात की पड़ताल करने का प्रयास करता है कि किस प्रकार वेदाध्ययन की शैक्षिक कल्पना से शूद्रों को बाहर कर दिया गया।[52] वे अपशूद्राधिकरण के

इतिहास को विभिन्न संस्कृत पाठों में देखती हैं और इन पाठों के इतिहास के द्वारा वे लगभग 2000 वर्ष की उस परम्परा को हमारे सामने लाने का प्रयास करती हैं जिसमें शूद्रों को शिक्षा के क्षेत्र में बहिष्करण झेलना पड़ा। रामानुज (बारहवीं शताब्दी ईस्वी का मध्य) और मध्व (तेरहवीं शताब्दी ईस्वी का मध्य) ने इस चर्चा को आगे बढ़ाया। अनन्या वाजपेयी बताती हैं कि शंकर द्वारा अपशूद्राधिकरण की जो चर्चा आरम्भ की गयी थी उसे बंगाल, मिथिला, वाराणसी और गंगा के मैदान में स्थित अन्य शैक्षिक स्थलों में लिखे गये पाठों में जगह मिलती रही।[53] उपनयन संस्कार को आरम्भिक भारत की सामाजिक संरचना को समझने में एक प्रमुख सांस्कृतिक परिघटना के रूप में देखा जा सकता है। कहने को तो यह शिक्षा के आरम्भ की ओर संकेत था लेकिन इसने शूद्रों को इसी आधार पर अलग-थलग करने में भूमिका निभायी। इसके कारण समाज द्विज और गैर द्विज जातियों में विभक्त हुआ। यही नहीं यज्ञोपवीत पहनने के कारण इसका एक भौतिक आधार भी बना जहाँ शरीर पर इस पवित्र धागे के होने या न होने से व्यक्ति की सामाजिक अवस्थिति निर्धारित होने लगी। उपनयन संस्कार को न करने पर किसी आर्य को शूद्र की स्थिति में पहुँचा दिया जाता था।[54] आरम्भिक भारत में उपनयन के सूक्ष्म विवरण उपलब्ध हैं जो इस अवसर पर धारण किये जाने वाले डण्ड की ऊँचाई, यज्ञोपवीत के धागे की सामग्री और संरचना को स्पष्ट करते हैं। यहाँ तक कि ऋतुओं के हिसाब से यह संस्कार सम्पादित होता था। ब्राह्मण का उपनयन बसन्त में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में और वैश्य का पतझड़ में उपनयन होना चाहिए।[55] हिरण्यकेशी गृह्य सूत्र (1,1,1) के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन सात वर्ष में, क्षत्रिय का ग्यारह और वैश्य का बारह वर्ष में विहित किया गया था। इसी प्रकार ब्राह्मण का उपनयन बसन्त में, क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य का पतझड़ में निर्धारित किया गया था।[56] कालान्तर में उपनयन संस्कार मुख्यतया एक सामाजिक प्रस्थिति (सोशल स्टेटस) में परिवर्तित होता गया और

अस्पृश्यता के बाद यह दूसरा कारक हो गया जिससे समाज में विभिन्न जातियों के बीच विभेद और बहिष्करण को स्पष्ट तौर पर चिह्नित किया जाने लगा। ए.एस. अल्तेकर का मानना है कि पूर्व मध्यकाल आते-आते उपनयन संस्कार ने एक व्यावहारिक स्वरूप ग्रहण कर लिया। अब वैश्यों का भी उपनयन की सीमा से बाहर हो गये जबकि धर्मशास्त्रीय आधारों पर वैश्य उपनयन संस्कार के लिए अर्ह थे।[57] इस प्रकार भारत में शिक्षा से सम्बन्धित नियम, कर्मकाण्ड और संस्कार एक सीमा पर जाति व्यवस्था के पुनरुत्पादन और सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया में सहायता पहुँचाने लगते थे। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आरम्भिक भारत में शिक्षा उस समय की सामाजिक संरचना को प्रभावित करने की हैसियत में थी।

पूर्व मध्यकाल में कलियुग का विचार चरम पहुँचा। इस विचार का सम्बन्ध समय और समाज व्यवस्था से है। आदिकाल में आदर्श समाज था, इसके बाद सतत रूप से अवनति हुई। ऋग्वेद में ऋतु की अवधारणा के द्वारा इसे स्पष्ट किया ही गया था जहाँ नैतिक मूल्यों के गिरावट पर चिन्ता व्यक्त की गयी है।[58] कालान्तर में इसे सामाजिक श्रेणियों की व्यवस्था से जोड़ दिया गया। राजा से अपेक्षा की गयी कि वह 'सामाजिक नियमन' में वर्णों की स्थिति को बनाये रखा जाएगा। पूर्व मध्यकाल में स्त्रियाँ, शूद्र, किसान और शिल्पकार ऊपर की ओर गतिशील दिखाई पड़ते हैं तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने से नीचे वर्णों की वृत्तियों की ओर परिचालित होते हैं। इसे कलिवर्ज्य कहा गया है। कलिवर्ज्य अर्थात् किसी विशेष सामाजिक अवस्थिति वाले समूह या व्यक्ति को क्या नहीं करना चाहिए। नियोग, विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, सगोत्र विवाह, शूद्रों से अन्न ग्रहण, समुद्र यात्रा, ब्राह्मणों के घरों में शूद्र रसोइयों का होना आदि कलिवर्ज्य है। काणे ने 55 कलिवर्ज्यों की सूची प्रस्तुत की है। इसमें से कुछ कलिवर्ज्य सामान्य मानवीय भावनाओं, नैतिकता आदि से जुड़े हैं तो कुछ का सम्बन्ध समाज व्यवस्था से है। इन

कलिवर्ज्यों को उन्होंने दसवीं-बारहवीं, शताब्दी के समाज से सम्बन्धित माना है।[59]

यदि हम जाति व्यवस्था से सम्बन्धित कलिवर्ज्यों की इस सूची को देखें तो पाएँगे कि शूद्रों के बीच ऊपर की ओर गतिशीलता की सम्भावनाएँ थीं, अब वे रसोइया हो सकते थे, खेती कर सकते थे या कोई अन्य व्यवसाय अपना सकते थे। इसी के साथ परम्परागत चातुर्वर्ण व्यवस्था की जकड़न भी शास्त्रीय रूप से मौजूद थी। इस प्रकार एक ही समय बहिष्करण और समावेशन दोनों साथ चल रहा था लेकिन जिस गति और विस्तार से बहिष्करण हो रहा था, उसी गति और विस्तार से समावेशन नहीं हुआ, और जैसा पूर्व मध्यकालीन भारत का समाज हमारे समक्ष आता है, समावेशन के अवसर भी कम होते जा रहे थे।

सन्दर्भ

1. डर्क्स, निकोलस बी (2003)
2. कोह्ल, बर्नार्ड (1987) : 154-157
3. आल्चिन, ब्रिजेट और रेमण्ड (1982)
4. श्रीमाली, के.एम. (2006)
5. ओमप्रकाश (1999) : 51-52
6. अथर्ववेद, 3, 4, 5, सैक्रेड बुक्स ऑफ़ द ईस्ट, सम्पादक : मारिश ब्लूमफ़ील्ड (1979) : 68
7. चक्रवर्ती, रणवीर (2012) : 95
8. काणे, पी.वी. (1992), प्रथम भाग : 117
9. काणे, पी.वी. (1992), प्रथम भाग :116-117
10. काणे, पी.वी. (1992), प्रथम भाग :116-117
11. सांकृत्यायन, राहुल (2010) : 167-72
12. यादव, सोनी (2016) : 191

13. चक्रवर्ती, रणवीर (2012) : 146; और भी देखें शर्मा, रामशरण (2004) : 143-44
14. अग्रवाल, वासुदेव शरण (2014) : 92
15. पोलॉक, शेल्डन (2006) : 40-41
16. त्रिपाठी, राधावल्लभ (2010) : 53
17. आधुनिक युग में जब मुद्रण तकनीक आयी तो धर्मशास्त्रों को एक बार पुनर्जीवन ब्रिटिश उपनिवेश के दौरान मिला। यह विषय प्रस्तुत काम का हिस्सा नहीं है लेकिन हमें इसका ध्यान रखना चाहिए।
18. रामगोपाल (1983) : 115
19. वही
20. ऑलिवेल, पैट्रिक (1999)। जब तक अन्यथा इंगित न हो तब तक धर्मसूत्रों से सम्बन्धित सन्दर्भ इसी पुस्तक से लिये गये हैं।
21. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1.9. 4-13
22. बौधायन धर्मसूत्र, 4, 21, 15
23. बौधायन धर्मसूत्र, 1, 5, 8-10
24. सिंह, उपिन्दर (2009) : 205
25. बौधायन धर्मसूत्र 1.8.2
26. बौधायन धर्मसूत्र 1.8.27
27. रामगोपाल (1983) : 125
28. काणे, पी.वी. (1992), द्वितीय भाग : 994-1008
29. धर्म, समाज और कानून के आपसी सम्बन्ध पर देखिए ऑलिवेल, पैट्रिक (2016)
30. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2, 27, 8-113
31. बौधायन धर्मसूत्र, 2, 3, 47-52
32. बौधायन धर्मसूत्र, 2, 4, 1
33. बौधायन धर्मसूत्र, 2, 4, 5
34. पाराशर—सेन, आलोका (2004)
35. ऑलिवेल, पैट्रिक (2014) : 98

36. वाचस्पति गैरोला (2011), प्रकरण 95, अध्याय 1, 1
37. शर्मा, राम शरण (2014) : 160-64
38. अर्थशास्त्र प्रकरण 1, अध्याय 2,3 गैरोला
39. क्वेश्चन ऑफ किंग मिलिन्द (2010) : 209-211
40. हेलिसे, चार्ल्स (2015)
41. ऑलिवेल, पैट्रिक (2006) : 1-25
42. चानना, देवराज (2009)
43. साहू, भैरबी प्रसाद (2015) : 3-17
44. चौधरी, प्रसन्न कुमार (2015) : 197
45. शर्मा, राम शरण (2015) : 240
46. कोसम्बी, दामोदर धर्मानन्द (2002) : 286
47. शूद्राश्चावरवर्णाश्च वृषलाश्च जघन्यजा (अमरकोश, सम्पादक : श्रीमन्नालाल अभिमन्यु, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी : 217)। जब तक अन्यथा इंगित न किया गया हो , इस शोध में अमरकोश के इसी संस्करण का प्रयोग किया गया है।
48. ऑलिवेल, पैट्रिक (2018) में प्रकरण 51 देखिए
49. शर्मा, राम शरण (1996, 2009) : 175
50. शर्मा, राम शरण (1996, 2009)
51. सचाउ, ई.सी. (1983)
52. ब्रोनर, यीगल और अन्य (2016) में संकलित अनन्या वाजपेयी का लेख 337-58
53. वाजपेयी, अनन्या (2016) : 337-38
54. अल्तेकर, ए.एस. (2010) : 164-65। अल्तेकर ने एजुकेशन इन एंशियण्ट इण्डिया 1934 में लिखी थी, आरम्भिक भारत की शिक्षा व्यवस्था और उसके सामाजिक-दार्शनिक आधार की विवेचना के लिए यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।
55. ऑलिवेल, पैट्रिक (1999) : 8
56. द गृह्यसूत्राज : गोभिल, हिरण्यकेशी, आपस्तम्ब, आपस्तम्ब या

प्रभाष सूत्र (1989) :137-38

57. अल्तेकर, ए.एस. (2010) : 166

58. श्रीमाली, के.एम. (2006)

59. काणे, पी.वी. (1992), द्वितीय भाग : 981-1010

नदी, सामाजिक व्यवस्था और उसका प्रस्तुतीकरण : पूर्व औपनिवेशिक उत्तर भारतीय समाज में निषाद समुदाय

इस अध्याय का उद्देश्य आरम्भिक भारत में निषादों के एक समुदाय के रूप में उदय का अध्ययन करना है। इस अध्याय का उद्देश्य धार्मिक और लौकिक साहित्य में वर्णित निषादों की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दशा के बारे में एक आधार भी प्रस्तुत करना है। साथ ही साथ यह अध्याय यह दिखाने का प्रयास करता है कि आरम्भिक भारत में जल स्रोतों विशेषकर नदियों और उनसे जुड़े सांस्कृतिक परितन्त्र निषादों के जीवन को किस प्रकार प्रभावित करते थे। एक समुदाय के रूप में वे कर आधारित राज्य के लिए कितना और कहाँ तक महत्त्वपूर्ण थे। अस्पृश्य जाति और एक हीन पेशे से सम्बद्ध होने के बावजूद पारम्परिक चातुर्वर्ण व्यवस्था में आर्थिक गतिविधियों में वे किस प्रकार महत्त्वपूर्ण थे।

समुदाय के रूप में निषादों का उदय

ऋग्वेद के समय से ही हमें भारतीय समाज का लिखित वर्णन मिलने लगता है। इसे लगभग 1500 से 1000 ईसा पूर्व के सामाजिक विकास के लिए एक ऐतिहासिक स्रोत के रूप में इतिहासकार प्रयुक्त करते

रहे हैं। इसमें किसी समरूप समाज के तो दर्शन नहीं होते हैं लेकिन विभाजन भी बहुत ज्यादा स्पष्ट नहीं हैं, इसके थोड़े से उत्तरवर्ती चरण में समाज चार वर्णों में विभाजित होते हुए देख सकते हैं : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। पुरुष सूक्त के बहुप्रचलित उद्धरण में वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति को आदि-पुरुष से जोड़ा गया, जिसे कालान्तर में धर्मसूत्रों और स्मृतियों में अश्मीभूत कर दिया गया। उत्तर वैदिक साहित्य में हम चार वर्णों का स्पष्ट विभाजन देखते हैं।[1] यहाँ हम प्रथम तीन वर्णों को समाज की धुरी पर तो चौथे वर्ण-शूद्र को परिधि पर देखते हैं। फिर भी तत्कालीन अर्थव्यवस्था में उत्पादन के क्षेत्र में स्थितियाँ भिन्न प्रकार से दीखती हैं। यहाँ हम शूद्र वर्ण में शामिल विभिन्न जातियों को उत्पादक कार्यों की प्रक्रिया में गहनता से संलग्न पाते हैं। वे खेतों में काम करते, हल चलाते, चमड़ा कमाते, धनुष-बाण बनाते, रथ बनाते, तेल पेरते, बाँस से विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बनाते और नाव चलाते देखे जा सकते हैं। कुल मिलाकर वे उस अर्थव्यवस्था को चलाते दीख पड़ते हैं जिसने आगे चलकर द्वितीय नगरीकरण का आर्थिक आधार तैयार किया। इतिहास के इस मोड़ पर यह दुखद रहा कि जाति-व्यवस्था को न केवल कठोर करने के शास्त्रीय एवं नैतिक आधार खोजे गये बल्कि बहिष्करण को संरचनागत आधार भी मिल गया। इतिहासकार जे. एल. मेहता ने लिखा है कि ऐसा राष्ट्र जो राष्ट्र के लिए धन उत्पन्न करने वालों को ही अपमानित करता हो...उन्हें हेय समझता हो, वह राष्ट्र अपनी महानता के गुणों का बखान करने का अधिकारी नहीं है, भले ही उसने धर्म, विज्ञान, कला, शिक्षा और साहित्य, तर्कशास्त्र तथा परिष्कृत सांस्कृतिक मूल्यों में कितनी ही उपलब्धियाँ क्यों न हासिल की हों।[2]

ऊपर से थोपी गयी इस सामाजिक गैर बराबरी और भेदभाव के बीच शूद्र वर्ण में शामिल जातियों को तो पहले ऐसी जीवन प्रणाली चुनने को बाध्य होना पड़ा जो कठिन शारीरिक श्रम पर आधारित थी और जिससे उनकी किसी प्रकार से जीविका चल सकती थी। इसके

साथ ही इस समाज में शक्ति संरचना तन्त्र भी उनकी ओर नहीं झुका था। इस सबके बीच स्वाभाविक रूप से जीविका के लिए यह सभी समुदाय प्राकृतिक संसाधनों की ओर उन्मुख होते गये। ईसा की प्रथम सहस्राब्दी में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों ने उन्हें नदियों और वनों से घनिष्ठता से जोड़ दिया। जैन, बौद्ध और ब्राह्मण धर्म के विस्तार, वैष्णव, शैव और शाक्त मतों के प्रसार के साथ कुछ विशिष्ट स्थानों को तीर्थ स्थलों के रूप में मान्यता मिल रही थी। महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्वाण के ठीक बाद ही उनके जीवन से जुड़े स्थल महत्ता प्राप्त करने लगे थे। लुम्बिनी, बोधगया, वाराणसी तथा कुशीनगर बौद्ध धर्म से जुड़े चार ऐसे स्थल थे जहाँ की यात्रा करना बौद्ध धर्म के अनुयायी अपना पावन कर्तव्य समझते थे, यहाँ तक कि अशोक जैसे सम्राट ने अपने एक अभिलेख में बहुत ही गर्वपूर्वक कहा है कि अपने राज्याभिषेक के बीस वर्ष बाद उसने शाक्यमुनि (बुद्ध का एक नाम) के जन्म स्थान की यात्रा की और वहाँ लगने वाले कर की कुल मात्रा में से उसका आठवाँ भाग माफ कर दिया था। इसी प्रकार महावीर स्वामी से जुड़े स्थल भी लोकप्रिय थे। यह अधिकांश स्थल नदियों के किनारे थे और उसके किनारे की उपजाऊ जमीन, चरागाहों की हदबन्दी, पशुपाल और खेती के प्रसार के कारण तेजी से नगरीय केन्द्रों में परिवर्तित होते जा रहे थे।[3] प्रत्येक नगर स्थल और जल मार्ग से जुड़ा था और वह ग्रामीण प्रदेशों से भली-भाँति पोषित हो रहा था। जाति व्यवस्था से सम्बद्ध पेशों के विशिष्टीकरण ने इसे और त्वरण दे दिया था। आरम्भिक भारत के सामाजिक इतिहास का यह ऐसा कालखण्ड है जब एक ही धरातल पर राज्य, समाज और पेशे की ऐतिहासिक श्रेणियाँ कार्य करने को प्रस्तुत हो रही थीं। इनमें से किसी एक को अलग करके दूसरे को नहीं समझा जा सकता है।

उत्तर वैदिक साहित्य में चार वर्णों में निषादों का उल्लेख मिलता है जो गैर आर्य कबीले के लोग मालूम पड़ते हैं और जिन्हें आर्यों के नियन्त्रण से बाहर रहने में कामयाबी मिली लेकिन साथ ही कर्मकाण्डी

सोपान व्यवस्था में उन्हें अपेक्षाकृत निम्न स्थान दिया गया था।[4] यजुर्वेद के रुद्राध्याय में निषादों का उल्लेख मिलता है। यहाँ उनको ऐसे सन्दर्भ समूह के रूप में दिखाया गया है जिनकी आर्यों से सर्वप्रथम भेंट हुई। यहाँ हम आर्यों के भारतीय उपमहाद्वीप में आगमन पर बहस में नहीं उलझना चाहेंगे। वेबर (1904), बी.सी. लाहा (1943), आर. सी. मजूमदार (1951) और डी.डी. कोसम्बी (1965) के हवाले से विवेकानन्द झा ने माना है कि आरम्भिक संस्कृत पाठों में निषादों के प्रभावपूर्ण उल्लेख के आधार पर माना जा सकता है कि वे कोई एक जनजाति विशेष न होकर इस उपमहाद्वीप के मूल निवासी थे। आर.पी.चन्दा ने निषादों को अनार्य समूहों का वास्तविक प्रतिनिधि माना है। उनका यह भी मानना रहा है कि निषाद मुण्डा परिवार की भाषाओं को बोलने वाले वास्तविक नृजातीय समूह थे।[5] लेकिन कुछ ही समय बाद हमें वेण और निषाद जैसे आदिम समुदाय मुख्यधारा में नहीं बल्कि हाशिये पर दिखाई देते हैं। वे मूलतः खाद्य संग्राहक थे जो विभिन्न प्रकार के शिकार करते थे, धनुष-बाण बनाने में सिद्धहस्त थे। इस बात की ज्यादा सम्भावना है कि इन समुदायों को मुख्य भूमि पर बसे हुए समुदायों द्वारा तब तक पीछे धकेला गया, जब तक वे अदृश्य न हो गये।[6]

निषादों की सामाजिक-सांस्कृतिक छवियाँ

निषादों को ब्राह्मणीय सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था के अन्दर लाने की प्रक्रिया उत्तर वैदिक काल में आरम्भ होती दिखती है। ऐतरेय ब्राह्मण (37,7) में उन्हें जंगलों में रहने वाला बताया गया है लेकिन सांस्कृतिक अर्थों में उन्हें असभ्य या जंगली नहीं बताया गया है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में वर्णित विश्वजित संस्कार में निषादों की तीन रात्रियों तक उपस्थिति अनिवार्य मानी गयी थी (17, 26, 18) और इसी सन्दर्भ में निषादों के एक गाँव का भी उल्लेख आता है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र

(9, 14, 12), कात्यायन श्रौतसूत्र (1, 1, 12) और वाराह श्रौतसूत्र (1, 1,15) में निषादों को रुद्र को यज्ञ में गवेधुक अर्पित करते वर्णित किया गया है। वास्तव में गृहसूत्रों में निषाद स्थपति के लिए यह एक अपवाद था जब उसे गवेधुक अर्पित करने का अधिकार दिया गया। यह सम्भावना व्यक्त की गयी है कि यह केवल क्षत्रिय सरदार के लिए था जो निषादों के ऊपर अधिकार रखता था।[7] इसके साथ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि यज्ञ में भाग लेने के लिए वेदों का ज्ञान आवश्यक था।[8] इसी सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र (3, 1) में निषादों को अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास यज्ञ करते देख सकते हैं। तो ऐसे में यह माना जा सकता है कि इस समय तक निषादों की दशा ठीक थी, या इसे हम एक अपवाद मान सकते हैं क्योंकि कालान्तर में इस तरह के और प्रमाण नहीं मिलते हैं। वाजसनेयी संहिता (16.27), तैत्तरीय ब्राह्मण (3.4.2–17) और तैत्तरीय संहिता (4.5.4.2)में निषादों का उल्लेख मिलता है। बौधायन धर्मसूत्र (1.9.3), मनुस्मृति (10.48), याज्ञवल्क्य स्मृति तथा महाभारत (अनुशासन पर्व, 48.5) के अनुसार निषाद ब्राह्मण पिता तथा शूद्र माता से उत्पन्न हुए थे।[9]

निषादों की तरह आभीर थे जो ब्राह्मण पिता तथा अम्बष्ठ माता की सन्तान (मनुस्मृति 10.15) माने गये हैं। ध्यातव्य है कि अम्बष्ठ पहले से ही वर्णसंकरों की सूची में थे। इस प्रकार आभीर द्वितीय पीढ़ी के वर्णसंकर कहे जा सकते हैं। आभीर नदी तटवासी थे। शिकार करना और नाव चलाना इनका मुख्य पेशा था। आभीरों का एक जाति के रूप में उदय जातियों के द्विगुणन को दिखाता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह प्रक्रिया आगे भी जारी रहने वाली थी। शूद्र पिता तथा वैश्य माता से उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान को आयोगव कहा गया है। मनुस्मृति के अनुसार आयोगव लकड़ी काटकर और बेचकर अपनी जीविका (10.48) चलाते थे।[10] इसी आयोगव स्त्री से जब निषाद पुरुष सन्तान पैदा करते हैं तो उन्हें कैवर्त्त/मार्गव/मल्लाह के नाम से अभिहित किया गया। मार्गव/कैवर्त्त नदियों के किनारे रहते थे और

मछली मारना, नदियों में नाव चलाना तथा ताड़ी का व्यवसाय इनकी आजीविका के मुख्य साधन थे। इनका उद्भव यह दिखाता है कि भले ही वर्णसंकरता निन्दित मानी गयी थी लेकिन वर्णसंकर जातियों में सामाजिक गतिशीलता थी।

महाकाव्य अन्तिम रूप से गुप्तकाल में लिखे गये लेकिन इनका मुख्य भाग प्रथम सहस्राब्दी ई.पू के उत्तरार्द्ध में लिखा गया। रामायण का प्रचार कई शताब्दियों तक वाचिक परम्परा में रहा है। अतः अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग पाठों की परम्पराएँ बनती गयीं। रामायण में यकोबी, वेबर और विण्टरनित्ज ने प्रक्षेपों की समस्या पर विचार किया है। इसके प्रामाणिक पाठों को सामाजिक प्रलेख के रूप में लिया जा सकता है। रामायण के भूगोल से उत्तर भारत के सामाजिक संस्तरीकरण के बारे में सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इसमें उत्तर भारत के नगरों और नदियों का उल्लेख है। हमें इसमें अयोध्या, हस्तिनापुर, कैकय, चित्रकूट और प्रयाग का उल्लेख मिलता है। व्यास, इक्षुमती, यमुना, गंगा, सरयू और गोमती नदियों और इनके आसपास के भूगोल का वर्णन रामायण में आया है।

निषाद समुदाय और उसकी उपजातियाँ नदियों के किनारे रहकर अपनी जीविका चलाती रही हैं। रामायण के अयोध्याकाण्ड (83.15) में कैवर्तों का उल्लेख मिलता है। कैवर्त का अपभ्रंश ही केवट है। रामायण के एक आख्यान (वाल्मीकि रामायण 2, 50, 33) के अनुसार निषादराज गुह ने राम को गंगा पार करने में सहायता प्रदान की थी। निषाद मुख्यतः नदी तटवासी जाति थी। नदियों में नाव चलाना, मछली का शिकार करना तथा नदियों के किनारे स्थित जंगलों में शिकार करना इनकी जीविका का मुख्य साधन था। निषादों द्वारा भरत और उनकी सेना को 500 नौकाओं की सहायता देते हुए रामायण के अयोध्याकाण्ड में देखा जा सकता है।[11] बहुत ही कम समय में निषादों ने प्रत्येक दिशा से 500 नावें इकट्ठा कर लीं और उनमें से तो कुछ बहुत सुसज्जित एवं अच्छी तरह से निर्मित थीं। भरत द्वारा भारद्वाज आश्रम

जाते समय नौकाओं पर लदे साजो–सामान के भव्य दृश्य का वर्णन वाल्मीकि ने किया है।[12] यहीं पर निषादराज गुह को भरत को मछली, मांस और शहद की भेंट देते हुए भी दिखाया गया है जो उनकी खाद्य आदतों के साथ वनों और नदियों पर उनकी निर्भरता को प्रकट करता है। महाभारत (आदिपर्व 149, 150) में निषादों द्वारा गंगावतरण कराने का उल्लेख मिलता है। महाभारत के शान्तिपर्व (59. 95–96) में छोटे हाथ–पैरों वाले और जली हुई लकड़ी के रंग का, लाल आँखों और घने काले बालों वाले समुदाय के रूप में चित्रित किया गया है। मनुस्मृति (10.4) और महाभारत (13.47.18) में एक स्वर में कहा गया है कि कोई पंचम वर्ण नहीं होता है[13] परन्तु शंकर ने आठवीं शताब्दी में ब्रह्मसूत्र (1.4.12) की अपनी टीका में निषादों को पंचम वर्ण में परिगणित किया है।

वीरता, अस्पृश्यता और वंचना के आख्यान

महाकाव्य निषादों के जीवन को व्यापक स्तर पर चित्रित करते हैं। वहाँ वे वनों में रहने वाले, वीर, निशानेबाज़ और प्रभावशाली समुदाय के रूप में दिखाई पड़ते हैं। रामायण में उनकी इस प्रभावशाली उपस्थिति को राम के वन गमन के समय रेखांकित किया जा सकता है। वे इतने प्रभावशाली और बलशाली थे कि उन्हें चतुरंग बल वाली सेना से कोई डर अनुभव नहीं होता था। चतुरंग बल में शामिल थे : पैदल, अश्व, रथ और हाथी। रामायण में निषादराज का यह कथन इस सन्दर्भ में देखा जा सकता है : 'मैं पूरा जीवन इन्हीं जंगलों में घूमा हूँ और मेरी जानकारी के बिना यहाँ कुछ नहीं हो सकता है। हम चतुरंग बल वाली सेनाओं से लड़ने के लिए प्रस्तुत हैं।[14] इस परिच्छेद से ज्ञात होता है कि निषाद समुदाय के लोग वनों के एक बड़े हिस्से सहित नदियों और उसके इर्द–गिर्द के इलाक़ों के मालिक थे। वे भारत में राज्य और सेना की आरम्भिक स्थापना के न केवल प्रमुख गवाह रहे हैं बल्कि

इसमें शामिल एक प्रमुख खिलाड़ी भी थे। गंगा घाटी में एकीकृत और संगठित मौर्य राज्य की स्थापना से पहले निषाद समुदाय एक प्रकार से 'स्वायत्त समुदाय' कहा जा सकता है जिसकी सामाजिक और सैनिक शक्ति को उपेक्षित नहीं किया जा सकता है।

यहाँ हम उत्तर भारत में जाति-वर्ण व्यवस्था के सुदृढ़ होने से पहले, उसके आरम्भिक चरणों में निषादों को पर्याप्त स्वतन्त्रता का उपभोग करते देख सकते हैं जहाँ पर मुख्यधारा के सामाजिक ढाँचे और राज्य का दबाव उन पर पड़ता हुआ नहीं दिखाई पड़ता है। कालान्तर में उनकी सामाजिक दशा अस्पृश्यों के स्तर तक चली आयी। पहले वे जंगलों में शिकारी थे। पुराणों में वर्णित निषादों के जन्म की कथा के अस्तित्व में आने से पहले तक के समय के लिए तो यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है।[15] यह कथा संक्षेप में कुछ इस प्रकार है : वेण नामक एक अनैतिक राजा रहता था। ऋषियों ने उसे दर्भ घास से मार डाला। वेण निःसन्तान था, अतः उसकी जाँघ को फाड़कर ऋषियों ने एक सन्तान को उत्पन्न किया। काले रंग, छोटे कद और चपटे चेहरे वाली इस सन्तान ने उनसे पूछा कि अब वह क्या करे तो ऋषियों ने कहा कि वह केवल बैठा रहे : निषद। इस व्यक्ति की सन्तानें निषाद कहलायीं और वे विंध्य क्षेत्र में बस गयीं। यह कथा विष्णु पुराण में वर्णित है।[16]

इस कथा के आधार पर निषादों की उत्पत्ति या भारतीय सामाजिक संरचना में शामिल होने की कहानी को समझा नहीं जा सकता है जबकि इससे बहुत पहले ही उनके बारे में पर्याप्त वर्णनों से आप परिचित हो चुके हैं। यह कथा केवल उस सामाजिक समाहारीकरण की ओर संकेत करती है जिसमें नयी-नयी जातियों को उनके पेशों के साथ न केवल वर्गीकृत कर दिया जाता था बल्कि उन्हें एक निश्चित सामाजिक पदानुक्रम में स्थित कर देने का प्रयास किया जाता था। पुराण इसकी अन्तिम परिणति कहे जा सकते हैं, जहाँ निषादों के रूप-रंग के साथ उनकी सामाजिक उपस्थिति को एक ताबेदारी पूर्ण

संरचना में अवस्थित करने का प्रयास किया गया। वेण उपाख्यान को इस प्रकार भी समझा जा सकता है।

महाभारत में लाक्षागृह में निषादी के जलने, पाण्डवों द्वारा वन में शिकार करते समय निषादपुत्र एकलव्य को देखकर अर्जुन के कुत्ते के भौंकने की प्रक्रिया और द्रोणाचार्य द्वारा एकलव्य के विच्छेदित अँगूठे को गुरुदक्षिणा में माँग लिये जाने को निषादों के प्रति 'हृदयहीन असम्मान' का प्रतीक माना गया है।[17] एकलव्य द्वारा द्रोण को अँगूठा अर्पित कर देने की इस कहानी की स्मृति सदियों से चली आयी है और आधुनिक भारत में निषाद समुदाय सामाजिक न्याय के संघर्ष के रूपकों को गढ़ने और प्रतिरोध आन्दोलनों को आगे ले जाने में इस छवि का प्रयोग करता रहा है। वास्तव में जंगलों में रहने वाले चाण्डाल, निषाद, पुलिन्द, व्याध आदि समुदायों को हिंसक, क्रोधी, मांसाहारी शिकारी और सामाजिक आचार-विचार को न मानने वाले समुदायों के रूप में चित्रित किया गया है। महाभारत के शान्तिपर्व, अध्याय 58 में निषादों को हजारों की संख्या में वनों में रहने वाला हिंसक समुदाय बताया गया है।[18] पुराणों में उन्हें काली त्वचा, चपटी मुखाकृति और लाल-लाल नेत्रों वाला तथा कद में छोटा कहकर उनकी भौतिक काया को समाज में अवांछित घोषित करने का आधार सृजित किया गया। यह वास्तव में परिधीय समुदायों को चित्रित करने का एक चलन भी था जिनमें उन्हें गहरे रंग, चौड़ी नाक, मोटे ओंठ, चौड़े जबड़े, उभरी हुई गालों की हड्डियों वाले मनुष्य के रूप में दिखाया जाता था। निषाद, पुलिन्द और भिल्ल आदि समूहों इस प्रकार का चित्रण शुरुआती संस्कृत साहित्य में लक्षित किया जा सकता है।[19] शरीर की भौतिक उपस्थिति का यह आधार अब तक चला आया है जहाँ एक बहुत बड़े वर्ग को उसकी शारीरिक बनावट के आधार पर विभिन्न प्रकार की अमानवीय स्थितियों का सामना करना पड़ता है। शरीर ही बहिष्करण का दायरा बन जाता है।

भारतीय साहित्य और संस्कृति की परम्परा में वाल्मीकि को

आदिकवि कहा गया है। एक बहुत ही लोक प्रचलित आख्यान में वाल्मीकि द्वारा क्रौंच पक्षी युग्म में से नर क्रौंच को एक बहेलिये के द्वारा मारे जाते देखकर उनके व्याकुल होने का उल्लेख मिलता है। उन्होंने उस बहेलिये को शाप दिया, ''हे निषाद तुम कभी भी शान्ति से रह न सकोगे क्योंकि तुमने इस क्रौंच युग्म के नर को मार दिया है'' (रामायण 1.2.81.1–17)। इस प्रकार एक ओर हम एक कविता का जन्म होते देख रहे हैं तो यह भी द्रष्टव्य है कि ठीक इसी समय एक कवि के शाप देते समय उसके रूपक किस प्रकार के हैं। यहाँ निषादों को अमानवीय, आक्रामक और अशुभ बताया गया है लेकिन इस महाकाव्य में हम निषादों को अपना पक्ष रखते नहीं देख सकते हैं। कथाओं या आख्यानों के निर्माण के साथ एक भाषा का निर्माण भी होता रहता है और पाठ निर्माण की इस प्रक्रिया में किसी जाति या समुदाय विशेष से जुड़े रूपक शताब्दियों लम्बे रास्ते तय करते हुए चले आते हैं। महाभारत के बिल्कुल उत्तरवर्ती प्रसंगों में कृष्ण के देहान्त का उल्लेख मिलता है (महाभारत 16.2.10–11, 16.5.18–21)। बताया जाता है कि जरा नाम के एक भीषण शिकारी ने उनके रक्तिम तलुओं में तीर से निशाना साधकर मार दिया और उसी से बाद में कृष्ण का देहान्त हो गया। महाभारत के एक टीकाकार नीलकण्ठ का कहना है कि यह शिकारी कैवर्त्त (केवट) था।[20]

बौद्ध ग्रन्थों, विशेषकर जातकों में निषादों का उल्लेख मिलता है और वे मछली मारने और शिकार से जीविका चलाते दिखाई पड़ते हैं जो पूरी दुनिया की विकसित हुई संस्कृतियों के सबसे प्राचीन पेशों में है। चूँकि निषादों का पेशा शिकार करना और मछली मारना था अतः उन्हें जातकों में हीन पेशा करने वाले समुदायों के रूप में परिगणित किया गया है। आलोका पाराशर–सेन भारतीय समाज के इस मनोनैतिक आधार को विश्लेषित करते हुए बताती हैं कि प्रायः हीन पेशे अपनाने वाले समूचे समुदाय एक–दूसरे से पेशे या प्रजाति के आधार पर जुड़ते चले जाते हैं और वे शेष जनसंख्या से अलग होकर

एक जाति के रूप में सुगठित हो जाते हैं।[21] जातियों के नामकरण, उसके पेशेगत सामाजिक आधार पर उन्हें 'अन्य और बहिष्कृत' करने के आधारों की विवेचना करते हुए आलोका पाराशर सेन रेखांकित करती हैं कि पुक्कस, निषाद, वेण, सूत, मागध और आयोगव सभी एक श्रेणी में ला दिये गये। यह पहला स्पष्ट प्रमाण है जब एक समूह को बहिष्कृत किया गया।[22] यह मानव समाज का एक विरोधाभास ही है कि किन्हीं समुदायों का अन्य समुदायों द्वारा बहिष्करण उन्हें आपस में सामाजिक-सांस्कृतिक इकाई के रूप में जोड़ता हुआ आगे बढ़ता है। अस्सलायन सुत्त में निषादों को चाण्डाल, वेण, रथकार और पुक्कस के साथ हीन जातियों में परिगणित किया गया है।[23] इस हीनता और बहिष्करण ने उन्हें आपस में जोड़ दिया, यह भारतीय इतिहास का अप्रिय सत्य तो है ही, यह हमारे में समकाल में भी घटित होता दिखता है जब समुदायों की एक पूरी शृंखला को हीन और अस्पृश्य करार दिया जाता है और वे हिंसा, अवमान एवं बहिष्करण के साझा अनुभवों के आधार पर आपस में जुड़ने लगते हैं।

पूर्व मध्यकालीन भारत में भी निषादों से सम्बन्ध रखने वाली उपजातियों को हीन जातियों में परिगणित किया जाता रहा। ग्यारहवीं शताब्दी में भारतीय उपमहाद्वीप में महमूद गजनवी के साथ आए हुए अरबी दार्शनिक, इतिहासकार और गणितज्ञ अबू रेहान मुहम्मद इब्न अहमद अल-बिरुनी ने भारतीय समाज, विशेषकर उत्तर भारत के समाज पर अपना प्रामाणिक विवरण किताब-उल-हिन्द नाम से लिखा था। अस्सी अध्यायों में विभाजित इस विवरण के नवें अध्याय 'जातियाँ जिन्हें वर्ण कहते हैं और उनसे निम्नतर वर्ग' में अल-बिरुनी हमें निम्नलिखित जातियों के लोगों के बारे में सूचित करते हैं : शूद्रों के बाद वे लोग आते हैं जो अंत्यज कहे जाते हैं। वे विभिन्न प्रकार के सेवा कार्य करते हैं और उनकी गणना किसी भी जाति में नहीं होती बल्कि

उन्हें किसी विशेष शिल्प या पेशे का सदस्य माना जाता है। उनकी आठ श्रेणियाँ हैं और उनमें धोबी, चमार, जुलाहों को छोड़कर जिनके साथ कोई भी किसी प्रकार का नाता नहीं रखना चाहता, वे आपस में स्वतन्त्रतापूर्वक विवाह करते हैं। ये आठ शिल्पी हैं : धोबी, जूता बनाने वाले, बाज़ीगर, टोकरीसाज और सिपरसाज, नाविक, मछुआरा, बहेलिया और जुलाहा। यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि नाविक और मछुआरा एक ही पेशे के अलग-अलग विशेषताओं को प्रकट करते हैं और सम्भव है कि अल-बेरुनी ने इसे दो अलग पेशों में गिन लिया हो। इसके साथ यह भी है कि पूर्व-औद्योगिक समाजों में मछुआरों की अपेक्षा नाविकों की दृश्यता अपेक्षाकृत अधिक थी इसलिए उन्हें दो भिन्न पेशों में गिना जाता था। कालिदास ने ऐसे समुदाय को धीवर, जलोपजीवी की संज्ञा दी है। इसके अतिरिक्त अभिधानचिन्तामणि, हलायुधकोष में धीवर, दाशः तथा जालिक का उल्लेख मिलता है। मत्स्यकारों द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले उपकरणों एवं वस्तुओं का उल्लेख भी यहाँ प्राप्त होता है यथा मत्स्यवेधनम (वंशी) जिसमें मछली फँसाते हैं।[24] बारहवीं शताब्दी की शुरुआत में संध्याकर नन्दी ने पाल राजा रामपाल के शासनकाल से सम्बन्धित रामचरित लिखा। इसमें कैवर्त्त दिव्य का विद्रोह वर्णित है। कैवर्त्त केवट का शुद्ध रूप है।[25] उनका मुख्य पेशा मछली मारना और नाव चलाना था। पालों के समय उन्हें सत-शूद्र में परिगणित किया गया।[26]

सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में लिखते हुए प्रसिद्ध भक्त कवि गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस और कवितावली में निषादों के बारे में लिखा है। रामचरितमानस में लिखते हुए तुलसीदास पूर्णतः भक्त कवि की तरह राम और निषाद समुदाय से उनके सम्बन्धों को चित्रित किया है, लेकिन कवितावली में निषादों की गरीबी के बारे में उन्होंने बहुत ही प्रामाणिक चित्रण प्रस्तुत किया है। अपने वनवास के दौरान राम गंगा के किनारे गये थे। गंगा नदी पार कराने से पहले केवट ने राम के चरण धोने की प्रार्थना की। उसे इस बात का डर था

कि कहीं उसकी नाव भी अहल्या की तरह उनके चरण स्पर्श से स्त्री न बन जाए : पात भरी सहरी, सकल सुत बारे-बारे/ केवट की जाति, कछु बेद न पढ़ाइहौं।/ सबु परिवारू मेरो यहि लागि, राजा जू/ हौं दीन बित्तहीन, कैसे दूसरी गढ़ाइयौं।।/ गौतम की घरनी ज्यौं तरनी तरैगी मेरी/ प्रभुसों निषादु ह्वै कै बादु ना बढ़ाइहौं/ तुलसी के ईस राम, रावरे सों साँची कहौं/ बिना पग धोए नाथ, नाव न चढ़ाइहौं।।[27] तुलसीदास द्वारा रचित इन पंक्तियों का भावार्थ यही है कि केवट के घर केवल सहरी मछली ही है और उसके सारे बच्चे छोटे हैं जिन्हें ठीक से शिक्षा भी नहीं मिलने वाली है। उसके नाव पर ही उसके परिवार का जीवन आश्रित है। वह इतना गरीब है कि दूसरी नाव भी नहीं गढ़ा सकता है। जिस प्रकार ऋषि गौतम की पत्नी अहल्या पत्थर से नारी बन गयी थी, वैसे ही कहीं उसकी नाव भी नारी का रूप न ले ले। निषाद होकर वह ईश्वर या प्रभु से विवाद भी नहीं बढ़ा सकेगा। इसीलिए वह राम से उनके पैर धोने की विनती कर रहा है। वैष्णव भक्ति के परम्परागत ढाँचे से बाहर निकलकर देखें तो पूर्व औपनिवेशिक भारत में निषादों का दैनन्दिन जीवन बहुत ही कष्टमय था। उन्हें ठीक से मछली भी नसीब न थी क्योंकि जिस सहरी मछली का उल्लेख तुलसीदास कर रहे हैं, वह बहुत ही सामान्य और छोटी मछली होती है। ऐसा बहुत सम्भव है कि मछली पकड़ने वालों के हिस्से में प्रायः छोटी या क्षुद्र मछलियाँ ही आती थीं। एक असमान सामाजिक आर्थिक संरचना में अपनी सन्तानों को कोई निषाद शिक्षा प्रदान करने की सोच भी नहीं सकता था और प्रभुवर्ग से वाद-विवाद तो बहुत दूर की बात थी।

निषादों के सामुदायिक अधिकार

इस काम में जगह-जगह समुदाय शब्द का प्रयोग किया गया है और उसी के विस्तार के रूप में सामुदायिक अधिकार पद भी है। हेनरी लुइस मार्गन के अनुसार इतिहास के आरम्भिक दौर में संगठित समुदायों की

प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार को लेकर एक धारणा काम कर रही थी। अधिकारों को लेकर यह दृष्टिकोण सामूहिक जीवन से उपजा था और ये संसाधन समाज में सबके लिए समान और उसके सभी सदस्यों के लिए उपलब्ध थे।[28] इस प्रकार दुनिया के लगभग हर हिस्से में इसे लेकर एक बोध काम कर रहा था कि किसी समुदाय विशेष का सदस्य होने के नाते उसके सदस्यों को किन्हीं स्थानों, दायरों, वनों, नदियों और पर्वतों पर दावा करने का अनन्य अधिकार है। इसे हम पढ़े-लिखे आधुनिक समाजों में भी देख सकते हैं जहाँ कोई छोटा सा समूह कोई संगठन या विचार से जुड़े होने के कारण कोई दावेदारी पेश करता है। मोटे तौर पर इन्हें हम सामुदायिक अधिकार कह सकते हैं। सामुदायिक अधिकारों (कम्युनिटी राइट) से आशय ऐसे अधिकारों से लिया जा सकता है जो किसी व्यक्ति को किसी समूह का सदस्य होने के कारण भौतिक वस्तुओं, परिसम्पत्तियों या सेवाओं पर प्राप्त होते हैं। बहुप्रचलित 'ऑक्सफ़ोर्ड एडवांस लर्नर्स डिक्शनरी' में सामुदायिक अधिकार से सम्बन्धित कोई इन्दराज़ नहीं मिलता है, जब तक कि हम अपनी सुविधा के लिए समुदाय-कम्युनिटी और अधिकार-राइट से सम्बन्धित शब्दों के योग से 'सामुदायिक अधिकार' पद-बन्ध न बना लें। फिर भी जैसा आधुनिक समय में देखा गया है कि सामुदायिक अधिकारों के लिए विभिन्न समुदाय अपनी भौगोलिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और रणनीतिक स्थितियों के अनुसार इन पर दावा व्यक्त करते रहते हैं। उनका दावा संसाधनों पर उनकी पहुँच और ऐतिहासिक आवश्यकताओं की अन्तरक्रिया से उपजा हुआ होता है। न्यूनतम मानवीय गतिविधियों वाले दुर्गम पर्वतीय क्षेत्रों में पाये जाने वाले समुदाय हों या नदियों की घाटियों में विकसित मत्स्य संस्कृति वाले समुदाय—ये सभी अपने दावे की पुष्टि के लिए इनके आदिम अनुरक्षक और हकदार (क्लेमेण्ट) होने का दावा प्रस्तुत करते हैं। वे इसके लिए लड़ते हैं, सत्ता का दमन सहते हैं और कभी-कभी अपनी जान भी दे देते हैं। सामुदायिकता की यह भावना चिपको आन्दोलन

और ऐसे ही पर्यावरणीय सामाजिक आन्दोलनों में देखी जा सकती है।[29] जिस दौर में चिपको आन्दोलन शुरू हुआ था लगभग उसी समय में बिहार के भागलपुर में गंगा मुक्ति आन्दोलन चला था जिसका एक प्रमुख माँग निषादों द्वारा मछली मारने की माँग और गंगा के किनारे प्रदूषणकारी उद्योग न लगाने की रही है।[30] इस आन्दोलन को कोई वैसा इतिहासकार और अन्तरराष्ट्रीय ध्यानाकर्षण नहीं मिल पाया है जिस प्रकार चिपको आन्दोलन और मध्य भारत के जंगलात प्रतिरोधों को मिला है।

इन आन्दोलनों से गहरे तक जुड़े समुदायों ने इस बात को लेकर आक्रोश व्यक्त किया कि प्राकृतिक संसाधनों पर सदियों से चले आ रहे उनके सामुदायिक अधिकारों को उपेक्षित किया जा रहा है जिन पर वे सदियों से अपना जीवन व्यतीत करते आ रहे हैं। इस प्रकार जब कोई समुदाय सामुदायिक अधिकार का दावा पेश करता है तो उसमें एक गहरा इतिहासबोध अवश्य होता है। यदि उन्हें लगता है कि अपने दावे और इतिहास में सम्बन्ध स्थापित करने में कामयाब नहीं हो पा रहे हैं तो वे 'परम्पराओं की खोज' कर लेते हैं।[31] इसके अगले चरण के समुदाय इन संसाधनों के अनुरक्षण और शान्तिपूर्ण साझेदारी की कोई न कोई प्रणाली भी स्थापित करने में सफल भी होते हैं जो उनकी संस्कृति और साझे सामुदायिक इतिहास से परिचालित होती है।[32] यह दिखाया गया है कि किस प्रकार तुर्की के मछुआरों ने सामुदायिक स्तर पर इस प्रकार की व्यवस्था का सृजन किया जिसमें बिना मत्स्य भण्डार का क्षरण किये ही प्रत्येक परिवार को मछली मारने का समान अवसर मिल जाता है।[33] ऐसा करके समुदाय राज्य की उस भूमिका को कम कर देते हैं जहाँ वह संसाधनों के 'नैतिक बँटवारे' का दावा करता है और लोगों के जीवन में अपनी प्रासंगिकता तलाशता फिरता है। समुदाय अपने लिए एक मौखिक समझदारी का विकास कर लेते हैं और अन्दरूनी संघर्षों को न्यूनतम करने का प्रयास करते हैं। चूँकि संघर्ष न्यूनतम होते हैं तो इसे समुदाय के बड़े-बूढ़े निपटा भी लेते हैं।

जब कोई समुदाय यह शक्ति खो देता है तो राज्य पुलिस और विभिन्न कानूनों के द्वारा समुदाय की आन्तरिक गतिकी को नियमित करने का प्रयास करता है।

भारतीय उपमहाद्वीप में, विशेषकर जिस भूभाग को हम आज उत्तर भारत कहते हैं, जब राज्य स्थापित हुआ तो उसके विकास के साथ ही साथ चार वर्णों में विभाजित सामाजिक व्यवस्था ने संसाधनों का बँटवारा या क़ब्जा ऊपर के तीनों वर्गों के पक्ष में कर लिया।[34] जाति प्रथा और पेशे की विशिष्टता कायम होने के बाद राजा से चातुर्वर्य व्यवस्था बनाये रखने की अपेक्षा की जाती थी जिसमें शूद्र वर्ण में आने वाली जातियों के हिस्से ऊपर के तीनों वर्णों की सेवा का प्रावधान विहित कर दिया गया था। ऐसे वातावरण में सबसे निचले धरातल पर स्थित जातियाँ प्रकृति से ही अपनी आजीविका प्राप्त कर सकती थीं और इस प्रक्रिया में प्राकृतिक संसाधनों ने उनके जीवन और संस्कृति को एक विशेष रूप प्रदान किया। वे नदी, पर्वत-पहाड़ और वनों से अधिक से अधिक जुड़ते गये। यदि हम उत्तर वैदिक ग्रन्थों में सामुदायिक अधिकारों के बारे में चर्चा करने का प्रयास करते हैं तो हमें निराशा ही हाथ लगती है और यदि स्रोत मिलते भी हैं तो उनमें सामुदायिक अधिकारों को लेकर उतनी स्पष्टता भी नहीं दीख पड़ती है लेकिन जैसे-जैसे हम उत्तर वैदिक काल के दौरान सामाजिक आर्थिक प्रक्रियाओं की ओर अग्रसर होते हैं तो हम पाते हैं कि अब राज्य की अवधारणा में स्पष्टता आने लगी थी[35] और इसके साथ ही साथ इस काल के ग्रन्थों में प्राकृतिक संसाधनों पर आश्रित समुदायों का उल्लेख मिलने लगता है।

राज्य की संरचना की सर्वव्यापी और स्पष्ट अभिव्यक्ति हम मौर्य राज्य की स्थापना में देख सकते हैं। मौर्य साम्राज्य की स्थापना ने एक नये प्रकार की शासन प्रणाली स्थापित की जिसके केन्द्र में राजा था, उसके द्वारा नियन्त्रित एक साम्राज्य था। यह भी कहा गया है कि मौर्य साम्राज्य एक सीमा के आगे लोगों के जीवन में हस्तक्षेप नहीं कर पाता

था क्योंकि संचार के साधन इतने तीव्र नहीं थे और एक बड़े साम्राज्य का शासन बहुत ही केन्द्रीकृत रूप से चलाना आसान न था। इसलिए परिधीय इलाकों और उनमें रहने वाले समुदायों को थोड़ी-बहुत छूट मिल जाती थी। फिर भी यहाँ पर ध्यान रखना चाहिए कि इस समय वनों में रहने वाले समुदायों को वहीं तक विशेषाधिकार उपलब्ध थे जहाँ तक वे राज्य के अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करते थे।[36]

इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि निषादों को कुछ अधिकार वहीं तक दिये गये थे जहाँ तक वे राज्य की आय के स्रोत और उसके अन्य अधिकारों में किसी प्रकार की कमी नहीं लाते थे। मौर्य राज्य का दृष्टिकोण और उसकी विश्वदृष्टि अशोक के अभिलेखों में देखी जा सकती है जहाँ सम्राट अपने आपको अपनी प्रजा का पिता मानता है। इससे राजा की अपनी प्रजा के सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर एक पितृवादी पकड़ मज़बूत हो जाती थी। अशोक के अभिलेखों से संकेत मिलता है कि उसने अपनी प्रजा की खाद्य आदतों को निर्देशित करने का प्रयास किया। यह कहना कि उसने अपनी अहिंसामूलक नीतियों से प्रेरित होकर उसने अपनी प्रजा से अपेक्षा की थी कि वे मछली न मारें, एक बहुत ही भोला सा साधारणीकरण होगा।

वास्तव में यह मुख्य भूमि और वनों तथा नदियों के किनारे रहने वाले समुदायों के बीच का एक सांस्कृतिक अन्तर और खाद्य आदतों का प्रश्न था लेकिन हमें इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि सम्राट के इस आदेश के बाद लोगों ने मछली खाना छोड़ दिया हो। निषादों सहित अन्य परिधीय समुदायों के जीवन में मछली महत्त्वपूर्ण थी और अपनी प्रजा के सामान्य दैनिक जीवन में हस्तक्षेप न करके उसे धम्म की एक व्यापक अवधारणा के अन्दर समाहित करने वाले सम्राट ने यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया था कि उन सरोवरों में अन्य समुदायों के लोग मछली न मारें जिनमें निषाद मछली मारते हों। अशोक का कन्दहार द्विभाषाई शिलालेख कहता है कि 'अन्य व्यक्तियों ने भी और राजा के सब शिकारियों और मछुआरों ने भी

शिकार करना बन्द कर दिया है...मछली पकड़ने वालों की गतिविधि पर भी निषेध लगाया गया है।'[37] अशोक के पाँचवें स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि नागवन में और कैवर्त्तभोग (केवटों के उपभोग के लिए रक्षित सरोवर) सहित अन्य जीव निकायों में निश्चित तिथियों को जीवों के मारे जाने की मनाही थी।[38] हाथियों के लिए आरक्षित इलाके 'नागवन' कहे जाते थे।[39] यहाँ पर इन जीवों में मछलियाँ भी शामिल थीं। इस प्रकार केन्द्रीकृत शासन के इस युग में राज्य द्वारा परिधीय समुदायों की खाद्य आदतों को नियन्त्रित करने का प्रयास किया गया तो दूसरी तरफ यह बात भी मान ली गयी थी कि निषादों की जीविका के एक स्रोत के रूप में तालाबों को अक्षुण्य रखा जाए। मौर्य सम्राट द्वारा मछली न खाने के प्रति चेतावनी देने के पीछे यह तथ्य हो सकता है कि अन्य लोग मछली खाते रहे हों और उनको यह मछली निषादों से मिलती रही हो और इस बात की भी सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता है कि अन्य समुदायों के लोग उन तालाबों से मछली पकड़ने का प्रयास करते रहे हों जो केवल निषाद या मछुआरों के लिए राज्य ने आरक्षित कर रखे थे। मौर्य युग में हम पहली बार राज्य को नौकाओं का एक स्थायी बेड़ा रखते हुए पाते हैं जिसमें व्यापारी और मछुआरे शामिल होते थे।[40] इसके साथ जो बात ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि राज्य नौकाओं पर कर भी लगाता था जो उसकी आय का एक बड़ा स्रोत था।[41] इस प्रकार राज्य के लिए निषाद समुदाय एक ऐसा समुदाय था जो करदाता था। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इस समुदाय ने भारतीय उपमहाद्वीप में राज्य की स्थापना के समय से ही राज्य और उसके लोगों के लिए समृद्धि पैदा की। इसलिए उसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता था। इसमें कोई सन्देह नहीं होना चाहिए कि आर्थिक और सामरिक रूप से यह समुदाय राज्य के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण समुदाय था। राजा बहुधा नावों के बेड़ों के साथ यात्रा करते थे। जातकों से इस बारे में सूचना मिलती है।[42] अर्थशास्त्र, स्मृतियों और जातकों की सूचनाओं को ध्यान से विश्लेषित करने पर

इस आशय का निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नदियों की रक्षा का भार भी इन्हीं समुदायों के जिम्मे था क्योंकि वे उनकी भूस्थिति के बारे में सबसे ज्यादा जानकारी रखते थे।

यह सर्व सिद्ध तथ्य है कि राज्य का अस्तित्व कोष से सीधे जुड़ा है। कौटिल्य ने राज्य के, सावयवी स्वरूप की चर्चा करते हुए राज्य के सात अंगों में कोष को भी परिगणित किया है। कोष की वृद्धि में नदियों के ऊपर लगाये जाने वाले शुल्कों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा होगा क्योंकि जैसा हम जानते हैं कि पूर्व आधुनिक समाजों में नदियाँ ही परिवहन का साधन थीं। इन नदियों को पार करने या नदियों के माध्यम से एक जगह से दूसरी जगह तक जाने में नावों का प्रयोग होता था। इस आवागमन पर नियन्त्रण स्थापित कर राजा न केवल राजस्व सुनिश्चित करता था बल्कि वह अपनी सत्ता को मज़बूती प्रदान करता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार समाहर्ता सबसे प्रमुख अधिकारी माना जा सकता है। उसका प्रमुख कार्य कर संग्रह करना था। उसके द्वारा संग्रहीत होने वाले करों में राष्ट्र नामक करों की एक श्रेणी थी। इसमें नदीपालस्तर और नाव कर भी शामिल था। अन्य करों में फल, वृक्ष, व्यापार कर, चरागाहों आदि से इकट्ठा किये जाने वाले कर शामिल थे।[43] यह बताता है कि संग्रह में नदी और नाव की कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। यह माना गया था कि राजा का मूल कोष और सेना है। सेना समस्त धर्मों (कर्तव्यों) का मूल है और धर्म प्रजा का मूल है।[44]

इन विवरणों से स्पष्ट है कि वे समुदाय जो नदियों में नौ परिवहन को गतिशील करते थे, उसमें विशेषज्ञता रखते थे, वे राज्य के लिए महत्त्वपूर्ण थे। राज्य की मशीनरी को चलाने की प्रक्रिया में निषादों की प्रस्थिति (स्टेटस) को इससे समझा जा सकता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पथकर, परिवहन शुल्क और सीमा शुल्क, भू-राजस्व, खानों, वनों आदि से प्राप्त राजस्व का व्यापक उल्लेख मिलता है।[45] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ही व्यापार के लिए विशेष तौर पर निर्देशित

'नदीपथ' (2,16, 25) का उल्लेख मिलता है। ऐसे पथ नदी के किनारे पर स्थित पण्य पत्तनों से जुड़े हुए होते थे (7, 12, 21)।[46] जाहिर है कि व्यापार की कल्पना नदी और उसमें चलने वाली नावों के बिना नहीं की जा सकती थी। इस प्रकार एक मौद्रिक अर्थव्यवस्था के विकास और उसके बने रहने के लिए नदी और उसमें चलने वाली नाव एक आवश्यक शर्त थी।

मल्लाहों को राज्य को कर देने के लिए नकद भुगतान के लिए प्रेरित किया जाता रहा होगा क्योंकि व्यापारिक-वाणिज्यिक गतिविधियों से उन्हें नकदी मिलती थी। मौर्यकाल और उसके बाद नकद लेन-देन प्रभूत मात्रा में होने लगा था फिर भी राज्य मछुआरों के रूप में कार्य कर रहे निषादों से उनकी शिकार-पकड़ (कैच) का छठवाँ हिस्सा ले लेता था जो उनकी नाव का किराया होता था। नदी के किनारे रहने वाले गाँवों के निवासियों से भी कर लिया जाता था। आज की तरह आरम्भिक समयों में भी निषादों की एक बड़ी जनसंख्या इन गाँवों में रहती थी। शंख और मोती का कारोबार करने वाले मछुआरों को भी कर देना पड़ता था।[47]

विभिन्न धर्मसूत्रों[48] में निषादों का उल्लेख मिलता है लेकिन उनके सामाजिक जीवन के बारे में स्पष्टता स्मृतियों में कहीं ज्यादा है। स्मृतियों में सबसे प्राचीन मनुस्मृति को माना जाता है। जर्मन विद्वान ब्यूलर ने इसका रचनाकाल 200 ई.पू. से 200 ईस्वी के बीच मानने का सुझाव दिया है। मनुस्मृति केवल इसलिए ही नहीं महत्त्वपूर्ण है कि यह संकर जातियों के बारे में और उनके पेशों के बारे में बताती है बल्कि यह उन जातियों की सामाजिक-आर्थिकी के बारे में भी बताती है। मनुस्मृति से निषादों/मल्लाहों/नाविकों के सामुदायिक जीवन के बारे में संकेत मिलते हैं। जब नाव से माल और लोगों का परिवहन करने में उनसे किसी भी प्रकार की क्षति या दुर्घटना हो जाती थी तो वे इसकी इसकी क्षतिपूर्ति एक प्रकार का संयुक्त कोष-ज्वाइण्ट स्टाक बनाकर (8.408) करते थे। नाविक सामुदायिक आधार पर संगठित

भी होते थे जिससे वे कुछ अयाचित स्थितियों का सामना करने में सक्षम हो पाते थे।[49]

मौर्योत्तर काल में मिलिन्द प्रश्न की रचना बौद्ध दार्शनिक विमर्श के लिए हुई। इसमें पशु–पक्षियों, मनुष्यों सहित निर्जीव वस्तुओं के गुण बताये गये हैं। इन गुणों का एक बौद्ध भिक्षु में होना प्रशंसनीय माना जाता था। इसमें जो रूपक दिये गये हैं, उसमें नाव का रूपक भी है।[50] यह रूपक निषादों के जीवन की महत्ता को समझने में सहायता करता है। जैसा हम जानते हैं कि निषाद और नाव एक–दूसरे से अविभाज्य हैं।

कोई भी भाषा एक सम्पूर्ण विश्वदृष्टि होती है और उसके शब्दकोश इसमें देखने की झाँकी उपलब्ध कराते हैं। इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि शब्दकोष किसी भी समाज के संचित ज्ञानकोष, धर्म, समाज और अर्थव्यवस्था के दर्पण माने जा सकते हैं। किसी शब्द को बनने और उसे लोक व्यवहार में बरते जाने में शताब्दियों का समय लग सकता है। कहा तो जाता रहा है कि शब्द ब्रह्म है लेकिन शब्द उसी समाज से आते हैं जिस समाज में वर्ण व्यवस्था और जाति की रचना हुई। इस प्रकार शब्द शास्त्र भारत की समाज व्यवस्था को जानने का एक माध्यम बन सकता है। ऐसा माना जाता है कि अमरकोश की रचना गुप्तकाल में 400 ई. के आसपास की गयी और इसमें इस समय तक हुए सामाजिक–आर्थिक संरचनाओं के विकास और विभिन्न पेशों के बारे में तत्कालीन समाज की विश्वदृष्टि का पता चलता है। अमरकोश में शब्दों को पच्चीस वर्गों में विभाजित किया गया है। शब्दों के इस विभाजन की एक सांस्कृतिक आर्थिकी और सामाजिक पृष्ठभूमि स्पष्ट तौर पर लक्षित की जा सकती है। अमरकोश में वर्णों की तरह शब्दों को भी चार वर्णों में बाँटा गया है। इसका बीसवाँ वर्ग शूद्र वर्ग है। इस वर्ग में निषादों की गणना चाण्डालों के दस नामों के साथ की गयी है : चाण्डाल, प्लव, मातंग, दिवाकीर्ति, जनंगम, निषाद, श्वपच, अन्तेवासिन्, चाण्डाल, पुक्कस। इस गणना में चाण्डाल शब्द

दो बार पाण्डुलिपियों के नकलकारों अथवा मुद्रण की असावधानियों के कारण आ गया होगा।[51] ज्यादा सम्भावना इस बात की है कि यहाँ किसी अन्य जाति का उल्लेख रहा होगा। इस प्रकार अमरकोश के इस सन्दर्भ से पता चलता है कि निषादों को उतना ही अस्पृश्य माना गया था जितना कि चाण्डालों को। विवेकानन्द झा ने एक पूरा लेख निषादों और आरम्भिक भारतीय समाज में अस्पृश्यता के ऊपर लिखा है।

अमरकोश का ही दसवाँ वर्ग वारि वर्ग है। इसमें जल से जुड़े शब्दों को रखा गया है। इस वर्ग में नाव से पार हो सकने योग्य नदियों के तीन नाम, छोटी नौका या डोंगी के दो नाम: द्रोणी एवं काष्ठाम्बु वाहिनी; नाव के तीन नाम : नौ, तरणि एवं तरि; उतराई देने के दो नाम—आतर एवं तरपण्य; नाविक के दो नाम—कर्णधार एवं नाविक; डाँड़े के दो नाम : नौकादण्ड एवं क्षेपणी; पतवार के दो नाम—अरित्र एवं केनपातक; नौका साफ़ करने वाली कुदाल के दो नाम—अभ्रि एवं काष्ठ कुदाल; नाव में पानी भर जाने पर पानी निकालने वाली बाल्टी के दो नाम : सेकपात्र एवं सेचन; मल्लाह के तीन नाम : कैवर्त्त, दास एवं धीवर; जाल के दो नाम : आनाय एवं जाल; सूत से बने हुए जाल के दो नाम : शणसूत्र एवं पवित्रक; मछली रखने वाली टोकरी के दो नाम : मत्स्याधानी एवं कुवेणी; मछली फँसाने की कँटिया या बंशी के दो नाम : बलिश एवं मत्स्यवेधन; मछली के आठ नाम : पृथुरोमन्, झष, मीन, वैषारिण, मीन, अण्डज, विसार एवं शकुलिन; पढ़िना मछली के दो नाम : सहस्रदंष्ट्र एवं पाठीन, झिंगवा मछली के दो नाम : नलमीन एवं चिलचिम; सहरी मछली के दो नाम : प्रोष्ठी एवं शफरी; रोहू मछली का नाम : रोहित, मांगुर मछली का नाम : मद्गुर, सौरी मछली का नाम : शाल, राया मछली का नाम राजीव, सौर मछली का नाम दिये गये हैं।[52] ये सारे शब्द निषाद समुदाय से जुड़े जीवन के शब्द हैं। इनसे आरम्भिक भारत में निषाद समुदाय का जीवन निर्मित होता था।

आरम्भिक भारत में निषादों के बारे में यदि हम कुछ लिखना

चाहते हैं तो संस्कृत स्रोतों में तो जिस किसी भी सन्दर्भ को हम देखते हैं तो इन शब्दों को बार–बार पाते हैं विशेषकर जहाँ निषादों के जीवन के बारे में कुछ भी कहा गया होता है। इसी प्रकार पाली भाषा की शब्दावलियों में निषादों से सम्बन्धित यह शब्द थोड़े बहुत विचलन के साथ मिलते हैं। कहने का आशय यही है कि आरम्भिक भारत में निषादों की उपस्थिति इतनी प्रभावशाली थी कि भाषा और साहित्य में वे तीव्रता के साथ उपस्थित थे, चाहे वे इसके बीच अनचाहे ही रहे हों। अमरकोश में निषादों के जीवन से सम्बन्धित यह शब्द निषाद जीवन की महत्ता को ही सूचित करते हैं।

राजस्व प्रदाता और धन का सृजन करने वाला समुदाय

आरम्भिक भारत में परिवहन के प्रमुख साधन के रूप में नावें ही थीं। आजकल की तरह न तो बारहमासी सड़कें थीं और न ही पुल। नावों पर विभिन्न प्रकार के कर और पथकर लगाये जाते थे। वशिष्ठ धर्मसूत्र में नावों पर लगने वाले करों और पथकर/राहदारी का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि नावें लम्बी होती थीं और उनमें पर्याप्त यात्री होते थे क्योंकि अपेक्षा की गयी थी कि किसी नाव पर कम से कम दस नाविक होने चाहिए और उनके पास कम से कम दो यन्त्र होने चाहिए। ये यन्त्र सम्भवतः नाव में पानी भर जाने के समय उससे पानी निकालने के लिए जरूरी रहे होंगे। यात्रियों की संख्या भी नियन्त्रित की गयी थी। नाविकों को नाव में सौ पुरुषों और एक सौ पचास से ज्यादा महिलाओं को बैठाने की अनुमति नहीं थी। यदि नदी का पाट इतना चौड़ा है कि एक तट से तीर चलाने पर यह मध्य में गिर जाए तो नाव से पथकर/राहदारी आठ मासा होना चाहिए। जिस नदी का पाट कम चौड़ा होता था, उसकी पथकर/राहदारी पाँच मासा होना चाहिए और जब नदी सिमटी हुई हो तो यह एक मासा होना चाहिए। वर्तमान समय के विपरीत यह पथकर नाव पर न लगकर यात्रियों

पर लगता था। यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि वेदों के ज्ञाता, राजकर्मचारी, बहुत ही दरिद्र व्यक्ति, घुमन्तू, संन्यासी, बच्चे, वृद्ध, नव-प्रसूताएँ और सेवकों की पत्नियों को छूट दी गयी थी। यदि कोई व्यक्ति नदी को तैरकर पार करेगा, उसे पथकर का सौ गुना भुगतान करना होगा। इस कानून का प्रावधान सम्भवतः इसलिए किया गया था कि इससे राजस्व की हानि होने के साथ दुर्घटना भी हो सकती थी जिससे प्रजा की हानि होती। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (1. 32. 26) से ज्ञात होता है कि वेदपाठी स्नातकों से अपेक्षा की जाती थी कि वे नदी को तैरकर पार करने से या असुरक्षित नाव की सवारी करने से बचेंगे।[53]

मौर्यकाल में व्यापारिक और अन्य आर्थिक गतिविधियों के लिए नाव का कदाचित सबसे ज्यादा प्रयोग होता था। मगध की राजधानी पाटलिपुत्र या आधुनिक पटना की स्थापना में नदियों के किनारे उसकी अवस्थिति के कारण ही की गयी थी। मौर्य राज्य की ओर से एक स्थायी वेतन भोगी अध्यक्ष जलमार्गों से होने वाले हर प्रकार के यातायात पर नियन्त्रण रखता था। नदी के मुहानों तक उसकी पहुँच थी। नदी के किनारे के गाँवों से कर वसूला जाता था और इसके साथ ही साथ नदियों से जितनी मछलियाँ पकड़ी जाती थीं, उनकी बिक्री से प्राप्त रकम का छठा भाग नौभाटक के रूप में वसूला जाता था।[54]

कौटिल्य ने इस सन्दर्भ में यह उल्लिखित नहीं किया है कि नदी के किनारे के गाँव निषादों के ही गाँव थे। फिर भी जैसा हमने विगत पृष्ठों में देखा है कि आरम्भिक भारत के सामाजिक अधिवास और पेशे के बीच एक स्पष्ट सम्बन्ध था। नदी के किनारे के गाँव प्रायः निषादों के गाँव हुआ करते थे जो मछली मारते थे और नाव चलाते थे। इस प्रकार निषादों के गाँव के गाँव राज्य के लिए राजस्व के अबाध स्रोत हुआ करते थे। सेना, पुलिस और गुप्तचरों की आवाजाही के लिए भी नदी में चलने वाली नावें महत्त्वपूर्ण साधन थीं। यह सम्भव था कि यह नाव या नावों का बेड़ा राजकीय होता था। यह भी सम्भव था कि नाविक राजकीय वेतन भोगी होता रहा हो लेकिन नाविक

निषाद ही होता था। वह राज्य जिसकी एक स्थायी नौकरशाही हो, उसके लिए कर बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। ऐसे में निषादों की बस्तियाँ आर्थिक और सामाजिक दृष्टि, किसी भी प्रकार से उपेक्षणीय नहीं थी, जैसा आरम्भिक भारत के इतिहास पर, विशेषकर चौथे वर्ण से सम्बन्ध रखने वाली किसी जाति का अध्ययन करने वाले किसी इतिहासकार को लग सकता है।

मनुस्मृति से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि नौकाओं पर मालवाहन के लिए शुल्क और पथकर लगाये जाते थे (8.404)। लम्बी दूरियों की यात्रा के लिए पथकर तय की गयी दूरी और समय के अनुसार (8.406) भी निर्धारित किया जाता था। धर्मसूत्रों की ही तरह मनुस्मृति (8.407) में भी दो महीने से अधिक अवधि की गर्भवती महिलाओं, घुमन्तू संन्यासियों, सन्तों, ब्राह्मणों और धार्मिक प्रतीक धारण करने वाले लोगों से नाव का किराया न देने का प्रावधान किया गया है। धर्मसूत्रों की ही तरह मनुस्मृति में कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं मिलता कि इसके लिए उन्हें राज्य कोई क्षतिपूर्ति देता रहा हो। नाविकों से यह एक प्रकार की बेगार ही थी। वर्तमान काल की ही भाँति आरम्भिक काल में भी नाविकों का पेशा बहुत सरल न था। नाव से माल और लोगों का परिवहन करने से उन्हें आय होती थी तो उन्हें इस बात का भी डर रहता था कि किसी भी प्रकार की क्षति या दुर्घटना होने पर उन्हें इसकी क्षतिपूर्ति भी करनी पड़ सकती थी (8.408)। उन्हें अपने अच्छे व्यवहार की गारण्टी भी देनी पड़ती थी (8.409)।[55]

आधुनिक भारत के एक लोकप्रिय आख्यान के रूप में मनुस्मृति की उपस्थिति रही है। इसके पाठ निर्धारण और मुद्रण ने इसे एक ऐसे पाठ के रूप में प्रस्तुत करना आरम्भ किया जिसने भारत की सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित किया है और उसी से भारतीय समाज परिचालित होता रहा है। यदि कोई मनुस्मृति का अध्याय दस, अलबेरूनी का भारत वर्णन और अकबरनामा को एकसाथ पढ़े तो पाएगा कि इन तीनों में जाति व्यवस्था की समझ में एक समानता है।[56]

ऐसा स्रोतों की एकरूपता के कारण है जिसमें सबसे प्राचीन मनुस्मृति ही है। ब्रिटिश उपनिवेश ने इस पाठ को पुनर्जीवन दे दिया। यह कोई अनायास नहीं था कि बीसवीं शताब्दी के भारत के सबसे महत्त्वपूर्ण नेताओं में से एक डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने मनुस्मृति का सार्वजनिक दहन किया और यह सन्देश दिया कि किसी आधुनिक समाज के मूल्यों को ऐसे किसी पाठ पर आधारित नहीं होना चाहिए।

सन्दर्भ

1. मुखर्जी, राधाकुमुद (2004) :101–30
2. मेहता, जे.एल. (1982) : 82
3. सिंह, रमाशंकर (2004)
4. थापर, रोमिला (2001) : 143–44
5. झा, विवेकानन्द (1970) : 273–288। इस हिस्से में इस शोधपत्र से सूचनाएँ ली गयी हैं।
6. श्रीमाली, के.एम. (2007) : 68
7. गृह्य सूत्राज, अनुवाद : हर्मन ओल्डेनबर्ग, भाग 2, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली : 317
8. वही
9. झा, विवेकानन्द (1970)
10. मनुस्मृति, 10.12, अर्थशास्त्र 3.7, याज्ञवल्क्य स्मृति 1.14
11. पोलाक, शेल्डन (2007), परिचय एवं अनुवाद, द रामायण ऑफ़ वाल्मीकि : एन एपिक ऑफ़ एंशियण्ट इण्डिया, वाल्यूम- 2, अयोध्याकाण्ड, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली, सर्ग 78, 1–77
12. पोलाक, शेल्डन (2007), परिचय एवं अनुवाद, द रामायण ऑफ़ वाल्मीकि : एन एपिक ऑफ़ एंशियण्ट इण्डिया, वाल्यूम-2, अयोध्याकाण्ड, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली, सर्ग 83,

10-22 देखिए।

13. त्रिपाठी, राधावल्लभ (2010) : 63-64
14. ट्राटमैन, थॉमस आर. (2015) : 110
15. चट्टोपाध्याय, बी.डी. (2009) : 44
16. मनी, वेत्तम (1979) : 540
17. डोनिगर, वेंडी (2011) : 288-90
18. चट्टोपाध्याय, बी.डी. (2017) : 166 ; इसी अध्ययन में पृष्ठ 183 पर फुटनोट 11 भी देखिए।
19. थापर, रोमिला (2013) : 489
20. डोनिगर, वेण्डी (2009): 242 पर उद्धृत।
21. पराशर-सेन, आलोका (2004) : 86-124
22. पराशर-सेन, आलोका (2006) : 423
23. पराशर-सेन, आलोका (2004) : 94, फुटनोट संख्या 6
24. यादव, सोनी (2018)
25. थापर, रोमिला (2013) : 500-01
26. रामचरित, 2, 28 रोमिला थापर (2013) : 529 पर उद्धृत।
27. तुलसीदास (2014) : 19
28. मोरगन, हेनरी लुई (2005) : 500-501
29. गुहा, रामचन्द्र (2010); और भी देखिए पाठक, शेखर (2019)
30. योगेन्द्र और सफदर इमाम कादरी (1990)
31. हाब्सबाम, एरिक जे और टी रेंगर (1983)
32. गुहा, रामचन्द्र (2008), 56
33. ऑस्ट्रम, एलिनर (1990) : 144-46
34. अग्रवाल, वासुदेव शरण (2001) : 621-36
35. शर्मा, राम शरण (1992) : 122-55
36. थापर, रोमिला (2014) : 93-96
37. थापर, रोमिला (2014) : 263
38. थापर, रोमिला (2014) : 267

39. ट्राटमैन थॉमस आर. (2015) : 52
40. कांगले, आर.पी. (1965) : 179
41. अर्थशास्त्र 2.28.21-23
42. मोतीचन्द्र (1964) : 55
43. ऑलिवेल, पैट्रिक (2013) : 109
44. राज्ञः कोशवलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम्। तन्मूल सर्वधर्माणां धर्ममूलां पुनेः प्रजाः। महाभारत 12,130.35
45. घोषाल, उपेन्द्रनाथ (1997)
46. विस्तृत विवरण के लिए देखिए ऑलिवेल, पैट्रिक आदि (2015) : 209
47. मत्स्यबन्धका नौकाभाटकं षड्भागं दधुः अर्थशास्त्र 2.28.2-5
48. वेदों के अध्ययन में सहायक या उपकारक ग्रन्थों को वेदांग कहा जाता है। ये छह हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द एवं ज्योतिष। हमारे लिए कल्प महत्त्वपूर्ण हैं। कल्प के महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में गृहसूत्रों और श्रौतसूत्रों का विशिष्ट स्थान है। होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा चार प्रकार के पुरोहित थे। इनके लिए क्रमशः श्रौतसूत्र, गृहसूत्र, धर्मसूत्र तथा शुल्वसूत्र निर्धारित थे। इनमें सामान्य दैनिक जीवन से लेकर धार्मिक और राजकीय कर्मकाण्डों का वर्णन, राजधर्म, स्त्रियों के कर्तव्य, दायभाग, संस्कार, प्रायश्चित और भक्ष्याभक्ष्य के बारे में जानकारी मिलती है। आगे चलकर इनके आधार पर स्मृति ग्रन्थ लिखे गये— त्रिपाठी, राधावल्लभ (2010) : 43
49. अग्रवाल, वासुदेव शरण (1998) : 40
50. द क्वेश्चन ऑफ़ किंग मिलिन्द (2010), पाली से अनुवाद टी. डब्ल्यू. रीजजेविड्स, भाग-2, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली।
51. अमर सिंह का अमरकोश (1995), सम्पादक : मन्नालाल अभिमन्यु, वाराणसी : चौखम्भा विद्याभवन। जब तक अन्यथा इंगित न किया जाए तो इस काम में अमरकोश के इसी संस्करण का प्रयोग किया गया है। अमरकोश, शूद्रवर्ग,19
52. अमर सिंह का अमरकोश (1995) : 45- 54

53. ऑलिवेल, पैट्रिक (1999) : 300
54. मुखर्जी, राधाकुमुद (1999) : 142
55. अग्रवाल, वासुदेव शरण (1998) : 40
56. सिंह, रमाशंकर (2015) : 259

अपवंचना और बेदखली : आधुनिक भारत में निषाद और उनका जीवन

इस अध्याय में हम आधुनिक समय में एक समुदाय के रूप में निषादों के उदय और विकास पर बात करेंगे और यह देखने की कोशिश करेंगे कि उपनिवेशवाद से उनका किस प्रकार सामना हुआ, उसने निषादों के साथ क्या व्यवहार किया। इसके बाद हम इस अध्याय में उन साधनों पर दृष्टि डालेंगे जिन पर निषाद समुदाय का जीवन आधारित है और जिनसे वे बेदखल किये जा रहे हैं। इसमें यह भी देखने का प्रयास किया जाएगा कि इस बेदखली के खिलाफ़ उन्होंने किस प्रकार की सामाजिक और राजनीतिक गोलबन्दियों की रचना की है।

सामान्यतया कोई समाज भले ही ऊपरी तौर पर एक शान्त और समरूप इकाई दिखाई दे लेकिन वह नदी के जल की तरह अन्दरूनी रूप से अशान्त और विक्षुब्ध रहता है। भारतीय समाज की विभिन्न तहों के बीच सम्बन्ध भी ऐसे ही माने जा सकते हैं। राज्य, समाज, समुदाय और व्यक्ति सदैव एक धरातल पर उपस्थित नहीं होते हैं बल्कि वे आपस में संघर्ष करते हुए दिखाई पड़ सकते हैं। किसी कृत्रिम शान्ति की तलाश में संलग्न व्यक्ति को समाज ठस्स दिखाई पड़ सकता है जबकि लोग अपनी नियति को बदलने के लिए दैनन्दिन और ऐतिहासिक स्तर पर संघर्ष करते रहते हैं। उत्पीड़ित समुदाय जातीय आधार पर सम्पत्ति, शिक्षा, स्वतन्त्रता से वंचित होने और अपमान तथा

हिंसा का शिकार होने के बावजूद जीवन्त समुदाय थे, और वे अनेक बार इन उत्पीड़नों के खिलाफ़ विद्रोह में भी उठ खड़े होते थे और जैसा प्रसन्न कुमार चौधरी ने रेखांकित किया है कि उनके एक छोटे हिस्से ने शताब्दियों के उत्पीड़न के बीच इन प्रथाओं को आत्मसात भी कर लिया था लेकिन उनका यह आभ्यन्तरीकरण अपवाद था, और यह अपवाद बगावत के नियम की ही पुष्टि करता है। भारतीय समाज कभी वैसा शान्त और जड़ नहीं रहा, प्रायः जैसी उसकी छवि पेश की जाती है।[1] इन रूढ़ छवियों को जब ब्रिटिश उपनिवेश ने तोड़ने का प्रयास किया तो उसने पहले से अधिक कठोर एवं अपमानजनक छवियाँ इन समुदायों के ऊपर चस्पाँ कर दीं। निषादों के मामले में इसे स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। आधुनिक समय में परिधीय समुदायों ने दो काम किये : उन्होंने अपने साथ हुए ऐतिहासिक अन्यायों के प्रमाण जुटाये और दूसरा उन्होंने अपना इतिहास रचने का प्रयास किया। इसमें मुद्रण की तकनीक ने उनकी मदद की, छोटी-छोटी पुस्तकों और अख़बारों ने उनके सन्देश को हस्तक्षेपकारी भूमिका में लाकर खड़ा कर दिया।[2] चौधरी आगे कहते हैं कि शिक्षा से वंचित रहने तथा अनेक किस्म की बन्दिशों का शिकार होने के बावजूद शूद्र जातियों से कई ऋषि, सन्त, लेखक सामने आए और उन्होंने न्याय, सम्मान और समानता के विचारों का प्रसार करने के साथ-साथ अपनी भाषाओं के विकास में भी अमूल्य योगदान दिया।[3] आज के उत्तर भारत में कोई यदि निषाद बुद्धिजीवियों को ध्यान से देखे तो वह पाएगा कि वे वही काम कर रहे हैं। वे पत्र-पत्रिकाएँ निकाल रहे हैं, अपनी आवाज़ बुलन्द कर रहे हैं और देश के 'राजनीतिक वृत्त' में हस्तक्षेप कर रहे हैं। 'अवमानना, बहिष्करण और हिंसा की नदी' के बीच वे अपना 'आत्म इतिहास' सृजित कर रहे हैं।

यह हिंसा बहुत ही स्पष्ट रूप से औपनिवेशिक भारत में लक्षित की जा सकती है जब ब्रिटिश शासन ने भारत की एक बड़ी जनसंख्या को दोहरे कलंकीकरण का शिकार बनाया। यह कहना ज्यादा उपयुक्त

होगा कि उसने कलंक का पुनरुत्पादन किया जिसका सीधा सम्बन्ध भारत की जाति-व्यवस्था से था। उसने स्थानीय परम्पराओं को लगभग समाप्त कर दिया, संस्कृत की स्मृति-परम्परा को एकमात्र परम्परा बना दिया और इसको उपनिवेशवाद के तात्कालिक हितों से नत्थी कर दिया। वास्तव में उपनिवेश ने प्राचीन शास्त्रों की विभेदमूलक सामाजिक व्यवस्थाओं को एक बार फिर ताबेदारी की नवीन परियोजनाओं से जोड़ दिया। व्याकरणों, शब्दकोशों, निबन्धों, पुस्तकों एवं अनुवादों के द्वारा उन्होंने समादेश के एक तन्त्र का निर्माण किया और भारत के ज्ञान-संसार को एक यूरोपीय परियोजना के रूप में ढाल देने का प्रयास किया गया।[4] इस दौर में प्राचीन ब्राह्मणवादी परम्पराओं को इस तरह से प्रस्तुत किया गया कि मानो भारतीय समाज उसी से चलता रहा है और ब्रिटिश शासन उसी को जारी रखने के पक्ष में खड़ा है। इसमें उन्हें भारत के उच्च वर्गों का समर्थन भी मिला। 1857 के विद्रोह के बाद यह उपनिवेश की सामाजिक दृष्टि हो गयी कि 'भारत की परम्पराओं में दखल नहीं' दिया जाएगा जबकि यह परम्पराएँ उसी समय पुनर्संयोजित की जा रही थीं। यह संयोजन कानून के रूप में बदल दिया जा रहा था। निकोलस डर्क्स ने इसे ही परम्परा का पाठ्यीकरण (टेक्स्चुलाइज़ेशन ऑफ़ ट्रेडिशन) कहा है।[5]

दारिद्र्य और कलंकीकरण : औपनिवेशक कानून और निषाद समुदाय

आधुनिक भारत के विभिन्न समुदायों का बहिष्करण और कलंक का आरम्भ प्रजाकरण की एक कठोर औपनिवेशिक परियोजना से हुआ। ऐसा नहीं था कि बहिष्करण और कलंक ब्रिटिश उपनिवेश के आगमन से पहले नहीं था। विभिन्न जातियों और पेशों के प्रति यह पहले से मौजूद था लेकिन वह कठोर परिभाषा और वर्गीकरण नहीं था जो उन्नीसवीं शताब्दी में परिकल्पित किया गया। इस शासन में

कोई भी व्यक्ति या समुदाय उपनिवेश की प्रजा हुए बिना बचा नहीं रह सकता था। वे लोग जो शहरों और गाँवों की सुनिश्चित चौहद्दी में बसे थे, उन्हें आसानी से प्रजा बना लिया गया। उन पर राजस्व और कानून-व्यवस्था के नियम आसानी से लागू किये जा सकते थे। दूसरी तरफ ब्रिटिश उपनिवेश द्वारा अपरिभाषित क्षेत्रों के रहवासी जैसे चलवासी पशुपालक, घुमन्तू समुदाय, पर्वतों के दुर्गम इलाकों में रहने वाले लोग, समुद्र तटों पर रहने वाले मछुआरे और नदियों के किनारे बसने वाले समूह उनकी विश्वदृष्टि में खटक रहे थे। वे आसानी से ब्रिटिश उपनिवेश की प्रजा नहीं बन रहे थे और उनके ऊपर कानूनों की पाबन्दी उस तरह से लागू नहीं हो पा रही थी जिस प्रकार मुख्य भूमि पर बसने वाले समूहों पर लागू हो जाती थी। इसी तरह से वे राज्य की सांख्यिकीय कल्पनाओं में अँट नहीं पाते थे। आधुनिक समय में जनगणना उपनिवेश का सबसे महत्त्वपूर्ण जुगत थी। यह उपनिवेश और उसके द्वारा स्थापित राज्य के औचित्य प्रतिपादन की सबसे शक्तिशाली भाषा भी थी।[6]

इस भाषा और कल्पना में इन समूहों को समाहारित करने के लिए सर्वथा एक नये कानून की आवश्यकता थी इसलिए 'क्रिमिनल ट्राइब एक्ट, XVII, 1871' के तहत देश की एक बड़ी जनसंख्या को आपराधिक जनजाति घोषित कर दिया गया। यह कानून एकसाथ ही कई आवश्यकताओं की पूर्ति करता था।[7] इससे न केवल 190 के करीब समुदाय कानून की निगहबानी में ले आए गये बल्कि उन्हें एक ऐसी सामाजिक श्रेणी में परिभाषित प्रजा में बदल दिया गया जिसका नियन्त्रण औपनिवेशिक राज्य के पास था।[8] इस कानून की व्यापकता इसी से पता चलती है कि 1947 में जब देश आज़ाद हुआ तो तब उत्तर प्रदेश में पूरे भारत की 'क्रिमिनल ट्राइब' की जनसंख्या का 40 प्रतिशत निवास कर रहा था। 1500,000 लोग उत्तर प्रदेश में इस श्रेणी में चिह्नित किये गये थे।[9]

निषाद भी इन्हीं चिह्नित समुदायों में भी शामिल थे। उन्हें 'जन्म

से अपराधी' (क्रिमिनल ट्राइब्स) कहा गया। बाद में 1952 में जब ऐसे समुदायों को इस श्रेणी से निकालने की प्रक्रिया शुरू हुई तो वे 'विमुक्त' समुदाय कहे गये।[10] यहाँ स्पष्ट किया जाना चाहिए कि निषाद उन अर्थों में घुमन्तू नहीं थे जिन अर्थों में अन्य पशुपालक समुदाय और दूसरे कम भाग्यशाली समूह थे लेकिन वे 'अनाज केन्द्रित उत्पादक समुदाय' भी नहीं थे। इस किताब की बिल्कुल शुरुआत में यह संकेत किया गया है कि अनाज उत्पादन और उस पर आधारित सामाजिक इतिहास लेखन की क्या दिक्कतें रही हैं। इसी के साथ यह भी कहा जाना चाहिए कि इस प्रकार के इतिहास लेखन में एक 'भौतिक प्रगति का सिद्धान्त' भी काम कर रहा था जिसके कारण ऐसे समूह इतिहासकारों की नज़र से छूटते गये।

ऐतिहासिक रूप से ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति हुई थी, इसके बाद बाड़ांबदी की गयी और कृषि से अतिरिक्त श्रम शहरों की ओर कूच करने को बाध्य हुआ। दूसरी तरफ ब्रिटेन में कृषि का भी आधुनिकीकरण हुआ। इसके विपरीत भारत में कृषक जीवन पद्धति से बाहर एक बड़ा समूह मौजूद था। इस समूह में वनों में रहने वाले और नदियों के किनारे गुजारा करने वाले समुदाय थे। उनका वनों और नदियों से जुड़ाव था। इस जुड़ाव को औपनिवेशिक शासन ने न केवल भंग कर दिया बल्कि उसने अनाज उपजाने वाले किसानों से परिपूरित गाँव का विचार प्रसारित किया।[11] इतिहासकारों का ध्यान इस ओर गया है कि राज्य प्रायोजित सिंचाई परियोजनाओं और भूमि को सम्पत्ति बना देने के बाद किस प्रकार चरागाही, घुमन्तू और अन्य वैकल्पिक जीवन प्रणालियाँ बहिष्करण का शिकार होती गयीं। ब्रिटिश शासन के दौरान विकसित भूमि व्यवस्था में 'शामिलात देह' एक खास भूमि होती थी। इस पर पशुओं को चराया जाता था। भूमिहीन घुमन्तू चरागाही जनों को किसानों से परिपूरित गाँव की कल्पना से बहिष्कृत कर दिया गया।[12] इसके कारण 'गाँव में जाति-प्रथा, कृषक सम्बन्ध, विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध,

जजमानी व्यवस्था' का अध्ययन हुआ लेकिन इस दायरे के बाहर के वैकल्पिक समुदाय अकादमिक विमर्श में पीछे छूटते गये।

यह समुदाय 'मुख्य धारा के समुदाय की संरचना में अवांछित' करार दिये गये। जी. एन. देवी का मानना है कि इंग्लैण्ड और यूरोप में भी घुमन्तुओं के प्रति एक अलग नजरिया काम कर रहा था। उन्हें कम प्रतिष्ठा प्राप्त थी, इसका कारण सत्रहवीं सदी में इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच जारी युद्धों में बड़ी संख्या में सैनिक रखने और उन्हें वेतन देने के लिए बहुत सारे धन की जरूरत थी। धन जुटाने के लिए उन्होंने कर संग्रह के प्रारूप में बदलाव किया। पहले उपजाऊ फसलों पर कर लेने का प्रावधान था लेकिन अब भूमि मापन के आधार पर कर आरोपण किया गया। जो कर अदा कर सकते थे समाज में उनकी इज़्ज़त थी और जो भूमिहीन थे, कर नहीं अदा कर सकते थे, समाज में उनकी इज़्ज़त कम होने लगी।[13] भूमिहीन वैकल्पिक समुदायों की भी समाज में इज़्ज़त इतनी कम हो गयी कि इन्हें संशय की दृष्टि से देखा जाने लगा। यूरोप के जिप्सी समुदाय को वहाँ बहुत प्रताड़ना सहनी पड़ी। इस बात का असर औपनिवेशिक भारत में अँग्रेज प्रशासकों पर भी हुआ उसके परिणामस्वरूप घुमन्तू जनों को आपराधिक जनजाति सूची में रख दिया गया। इस एक्ट को पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, पंजाब और अवध में लागू किया गया। इसने पुलिस को बहुत अधिकार दिये। समुदायों को पुलिस थाने में जाकर अपना पंजीकरण करवाना होता था। पुलिस उन्हें एक लाइसेंस देती थी। वे पुलिस की अनुमति के बिना जिले से बाहर नहीं जा सकते थे। यदि वे अपना स्थान बदलते तो इसकी सूचना पुलिस को देनी होती थी।[14]

बिना पुलिस की अनुमति से यदि समुदाय का कोई सदस्य एक से अधिक बार अपनी बस्ती या गाँव से अनुपस्थित रहता था तो उसे तीन वर्ष तक के कठोर कारावास का भागीदार होना पड़ता था। उनके लिए स्पेशल रिफॉर्म कैम्प की भी व्यवस्था की गयी जिसमें उन्हें सुधारा जाना होता था। उत्तर प्रदेश में इस प्रकार के रिफॉर्म कैम्प खीरी और

कानपुर के रुरा में खोले गये। इन स्कूलों को खोलने में सॉल्वेशन आर्मी की भूमिका थी।[15] इसी प्रकार का एक सुधार स्कूल इलाहाबाद जिले में भी खोला गया।[16] यह स्कूल फूलपुर में था जहाँ 'चोरी-बदमाशी पेशावालों की लड़कियाँ' सिलाई-कढ़ाई का काम सीखती थीं।[17] 'चोरी-बदमाशी पेशावालों की लड़कियाँ'—यह वाक्य खण्ड शालिग्राम श्रीवास्तव ने अपनी किताब में 1937 में लिखा था। यह दिखाता है कि आज़ादी आने के मात्र दस वर्ष पहले तक वह पहचान एक सामान्य पहचान बन चुकी थी जिसे सरकार ने एक कानून के द्वारा सृजित किया गया था। खैर, 1910 में यह स्कूल फूलपुर में एक परित्यक्त अफीम गोदाम में खोला गया जिसके लिए सॉल्वेशन आर्मी के कमिश्नर बूथ-टकर ने यूनाइटेड प्रोविंसेज के सचिव एम.एल. स्टुअर्ट को राजी कर लिया। बूथ-टकर ने सरकार को मस्का लगाते हुए यह भी लिखा कि इस स्कूल का नाम 'फूलपुर द लेडी हेविट गर्ल्स होम' रखा जाए। इसके लिए सरकार ने तीन हजार रुपयों का अनुदान भी मंजूर किया।[18] इस स्कूल में विभिन्न 'क्रिमिनल ट्राइब्स' की बालिकाओं को लाया जाना था जिन्हें 'इंडस्ट्रियल ट्रेनिंग' दी जानी थी। इसमें रेशम के कीड़े का पालन, बुनायी और सिलाई का काम होना था। 26 नवम्बर 1910 को लिखे एक पत्र में बूथ-टकर ने एम.एल. स्टुअर्ट को सुझाव दिया कि फूलपुर इलाहाबाद शहर से मात्र 25 किलोमीटर दूर है, इसलिए यहाँ जो माल तैयार होगा, वह शहर में बेचा जा सकता है। इन लड़कियों को 'व्यावहारिक प्रशिक्षण' देकर आया का काम दिलाया जा सकता है जिसकी आजकल काफी माँग है।[19]

इस तरह उपनिवेश ने भारत का एक नैतिक और सामाजिक बोध गढ़ने की जो परियोजना आरम्भ की, उसके प्रमुख धारक इन्हीं समुदायों के लोग थे। अफ़ीम गोदामों में इसी प्रकार के स्कूल रुरा, कानपुर और कर्वी, बाँदा में खोले गये। गोरखपुर में डोम समुदाय के लिए वहाँ की एक पुरानी जेल के एक हिस्से को सुधार स्कूल में

बदला जाना था, जिसे उच्चाधिकारियों ने नहीं माना और कहा कि 'डोम आकर यहाँ पर फिर छोटी-मोटी चोरियाँ' करेंगे। 1922 में कानपुर शहर के भौगोलिक सीमान्त पर कल्याणपुर में हबुड़ा और भातू समुदाय के लिए एक सुधारगृह और स्कूल की स्थापना की गयी। वास्तव में उपनिवेश द्वारा यह मानकर चला जा रहा था कि यह समुदाय पतित हो गये हैं और उन्हें एक नये किस्म के नैतिक शास्त्र की आवश्यकता है। सॉल्वेशन आर्मी इसमें ब्रिटिश उपनिवेश की सहायता कर रही थी। यह दोनों के लिए फायदे का सौदा था। सॉल्वेशन आर्मी को धर्म प्रचार में सहायता मिलती थी और उपनिवेश को बिना पैसा खर्च किये अपनी प्रजा में 'ब्रिटिश नैतिक शास्त्र' को बढ़ावा देने का अवसर मिल जाता था। खीरी में खोले गये कैम्प में सॉल्वेशन आर्मी को काफी सहायता मिली। मुरादाबाद के साँसी लखीमपुर लाये गये। एटा के भाटू काशीपुर में बसाये गये। सॉल्वेशन आर्मी के एफ. बूथ-टकर बार-बार ऐसा दिखा रहे थे कि ऐसा करके वे सरकार की कितनी बड़ी सहायता कर रहे थे। यहाँ तक कि एक बार जब सहारनपुर से काशीपुर के लिए भाटू समुदाय को ले जाना था तो इसके लिए सरकार को एक हजार रुपये का बजट आवंटित करना पड़ गया। सरकार भाटू जनों पर विशेष ध्यान दे रही थी क्योंकि वे 'आसानी से काबू में नहीं' हो रहे थे।[20] इसी समय एटा और मैनपुरी के 'क्रिमिनल ट्राइब्स' को काशीपुर के कैम्प में स्थानान्तरित किया गया।[21] इस प्रकार औपनिवेशिक पुलिस, ईसाई नैतिकता और भारतीय समाज की वंचना एक ही दायरे में सक्रिय होकर इन समुदायों का वर्तमान और भविष्य निर्धारित कर रही थी।

खैर, इस सबका एक प्रभाव यह पड़ा कि घुमन्तू जन मजबूरी में बसने लगे और इसी के साथ वे जहाँ भी बसे, उस बस्ती को पुलिस की सीधी नज़र में लाया गया। इन बस्तियों को कलंकित बस्ती होने में देर न लगी। 1871 के क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट से स्थानीय जमींदारों को भी जोड़ दिया गया। जमींदारों को न केवल पंजीकरण में पुलिस

की सहायता करनी होती थी बल्कि वे पंजीकृत समुदायों के सदस्यों की खोज-खबर भी रखते थे। समुदाय की 'पहचान' निर्धारित करने का अधिकार उच्च्च अधिकारियों को दिया गया।[22] उत्तर प्रदेश में गोण्डा जिले के बरवार समुदाय को 1 जुलाई 1884 को आपराधिक जनजाति घोषित किया गया। उनकी बस्तियों को चिह्नित किया गया और उनकी संख्या को दर्ज किया गया।[23] उत्तर प्रदेश के इंस्पेक्टर जनरल की रिपोर्ट में लिखा गया कि यह 'विश्वास करने के पर्याप्त कारण' हैं कि गोण्डा के बरवार, एटा के अहेरिया और ललितपुर के सुनरहिया समुदाय को अपराधी घोषित कर दिया जाए। क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट के घोषित होने के दो वर्ष बाद ही 1873 में ग्यारह गाँवों के 48 अहेरिया परिवारों को इसके अधीन अपराधी घोषित कर दिया गया। अलीगढ़ के अहेरिया समुदाय के लोगों के साथ भी यही हुआ। गोरखपुर के डोम 1880 के बाद इस कानून की जद में आए और उन्हें अपराधी घोषित किया गया।[24] इसी प्रकार बस्ती जिले के पुलिस अधीक्षक ई.जे. डब्ल्यू. बेलेयर्स की 1913 की एक रिपोर्ट बताती है कि अगस्त 1911 में परसुरामपुर थाने के एक दर्जन के करीब गाँव अपराधी घोषित किये गये। इन गाँवों में खटिक समुदाय के लोग रहते थे।[25] इस प्रकार इस औपनिवेशिक कानून ने व्यक्ति, समुदाय और एक दिये गये दायरे (स्पेस) को कलंकित करने की जो परियोजना शुरू की, वह अभी भी महीन रूपों में जारी दिख सकती है[26] जब किसी स्थान को किसी धर्म, समुदाय, लिंग और नस्ल के रहने वालों के कारण कलंकित कर दिया जाता है।

औपनिवेशिक भारत में इस कानून का सबसे बड़ा झटका निषादों को लगा। उनकी अधिकांश बस्तियाँ प्रायः नदियों के किनारे थीं। ब्रिटिश शासन के प्रकट और अप्रकट रूपों से उनका रोज का सामना हो रहा था। नदियों पर क़ब्जा जमाया ही जा रहा था। रेलवे के आगमन ने उन्हें लगभग दरिद्रता और बेरोजगारी की ओर धकेल दिया। यही बात अन्य समुदायों के साथ भी हुई थी। बनारस के

कलेक्टर ने 1883 में यह दर्ज किया कि ईस्ट इण्डियन रेलवे के कारण गंगा में बंगाल की तरफ जाने वाला नौ व्यापार घटता जा रहा है। यह पाँच-छह लाख माउण्ड से घटकर एक लाख माउण्ड रहा गया है।[27] और जैसे ही गंगा पर रेलवे का पुल बन जाएगा तो यह भी समाप्त हो जाएगा। ध्यातव्य है कि इससे पहले गंगा नदी पर डुमरी और राजघाट के बीच नावों वाला एक पुल बनता था जो नवम्बर से जून तक काम करता था।[28] उसी समय अवध एण्ड रुहेलखण्ड कम्पनी गंगा पर रेलवे पुल बना रही थी।[29] इन सब कारणों से निषाद समुदाय में गरीबी का प्रसार हुआ। नदी में उनकी गतिविधियाँ सीमित होते-होते स्थानीय हो गयीं। उनके 'मल्लाही महीने' गायब हो गये। मल्लाही महीने वे महीने होते थे जब नदियों में बहुत ज्यादा पानी भरा होता था और समाज आवश्यक परिवहन के लिए उन पर निर्भर रहता था। जुलाई से अक्टूबर तक वे नदियों के बेताज़ बादशाह हुआ करते थे। इसके बाद के महीनों में मछली का शिकार और उत्सवों का मौसम आ जाया करता था। नौ चालन भी इस समय बेहतर होता था। पुलों के निर्माण और स्टीमर ने उनके इस अवसर को बहुत ही सीमित कर दिया। वर्ष 2020 के अगस्त-सितम्बर में चन्दौली जिले के एक नाविक ने यह बात बलुआ घाट के पुल की ओर इशारा करते हुए कही थी :

"इस पुल ने हमारे लोगों को गरीब बना दिया। पहले हम नदी पार कराने वाले एकमात्र बिरादरी थे। अब आप इक्का, जीप, कार या बस के द्वारा पुल पार कर लेते हैं। अब किसी को हमारी जरूरत नहीं है।"

उस समय मुझे बनारस के कलेक्टर की 1883 की रिपोर्ट याद हो आयी। उत्तर प्रदेश में कानपुर, इलाहाबाद और वाराणसी में निषाद जनों ने सामूहिक और एकल बातचीत में यह बात बार-बार दोहरायी है। ऐसा नहीं है कि वे पुराने युगों में लौट जाना चाहते हैं बल्कि अपनी वर्तमान गरीबी को वे अपने अतीत के आलोक में देखते रहते हैं। मौखिक इतिहास कमजोर समुदायों के लिए कभी-कभी मरहम का काम करता है लेकिन उसका सामना करना आसान नहीं होता है।

निषाद जनों के लिए आधुनिक भारत का इतिहास सरल और ऋजुरेखीय नहीं रहा है। जुलाहों की तरह उनकी भी हड्डियाँ गंगा के मैदानों में कबूतर की अस्थियों की तरह सूखती रही हैं लेकिन उसके विवरण आर्थिक इतिहासकारों ने उस प्रकार से नहीं जुटाये हैं जिस प्रकार अन्य समुदायों के इतिहास पर काम करने वाले इतिहासकारों ने किया है। आधुनिक भारत में ब्रिटिश उपनिवेश का निषादों से सीधा सामना हुआ। गंगा नदी को निरापद बनाने की कोशिशें तो 1820 के दशक से हो रही थीं लेकिन ब्रिटिश शासन को एक बड़ी बढ़त 1871 के कानून से मिल जाती थी। जनगणना रिपोर्टों में निषादों पर ध्यान केन्द्रित किया गया।[30] इलाहाबाद, बलिया, जौनपुर, फ़ैज़ाबाद, लखनऊ, कानपुर, एटा, मैनपुरी, आगरा, मथुरा, बुलन्दशहर और अलीगढ़ के मल्लाह 1910 में क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट के अधीन ले आए गये। उन्हें सामान्य कानून व्यवस्था के साथ-साथ रेलवे के लिए भी खतरनाक माना जाने लगा। आगरा और मथुरा के अधिकारियों की रिपोर्ट्स इसी ओर इशारा करती हैं।[31] इन रिपोर्टों में निषादों में 'चाईं' उप समुदाय के ऊपर विशेष ध्यान देने की बात बार-बार नोटिस की जा सकती है।[32]

रेलवे उपनिवेश को मजबूती देती थी लेकिन यह उन समुदायों के लिए भी उपयोगी साबित हो रही थी, जिनके आने-जाने पर नियन्त्रण स्थापित किये जाने की कोशिश की जा रही थी। माना जा रहा था कि आगरा और मथुरा के मल्लाह रेलवे पुलिस को न केवल चकमा देते हैं बल्कि उनकी सम्पत्तियों को नुकसान पहुँचाते हैं, छोटी-मोटी 'उठाईगीरी' करते हैं।[33] इसके लिए दूसरे अन्य प्रान्तों के पुलिस और खुफ़िया अधिकारी इस बात पर बार-बार जोर दे रहे थे कि यूनाइटेड प्रोविंस के मल्लाहाओं पर नज़र रखी जाए और उनके वित्तीय लेन-देन पर विशेष ध्यान दिया जाए। वास्तव में इस दौर में ही गठित डाकखानों ने लोगों को मनीऑर्डर से पैसा भेजना आसान बना दिया था। 1880 के दशक से उत्तर भारत के औपनिवेशिक अधिकारी यह

भी मानने लगे थे कि आपराधिक जातियाँ इनका उपयोग 'सुरक्षित पैसा' भेजने में करती हैं लेकिन वे प्रायः इसका कोई सबूत नहीं दे पाते थे।[34] कभी-कभी इन जातियों के सदस्यों की जेब में कुछ धन होना भी मुसीबत का कारण बन जाता था और पुलिस उनपर चोरी का शक करती थी। बहुत बाद में इसे एक नाटक में दर्ज किया गया है जहाँ एक शबर आदिवासी को इसलिए पुलिस पकड़ लेती है कि वह एक दुकान पर पान खाने आया था। पुलिस के शक का आधार यही था कि उसके पास पैसा कहाँ से आया होगा?[35] इस किताब की शुरुआत में बताया गया है कि ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख है कि विश्वामित्र ने अपने पुत्रों को आज्ञा दी थी कि वे शुनःशेप को भाई मानें। पुत्रों ने उनकी आज्ञा नहीं मानी। विश्वामित्र ने अपने इन पुत्रों को शाप दिया कि वे सभी आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिब हो जाएँ। शबर जनों के प्रति जो आरम्भिक भारत का दृष्टिकोण था, आधुनिक भारत में उसमें उपनिवेश के कानून और पुलिसिया नजरिये का मेल हो गया। परिधीय जातियों के बहिष्करण की कहानी कोई एक दिन में घटित नहीं हुई है। उसने एक लम्बा समय लिया है।

भारत के आज़ाद होने की पूर्व बेला में जब भारत की संविधान सभा का गठन हुआ तो 'आपराधिक जनजातियों' को अधिकार देने की बात उठी। सेण्ट्रल प्रोविंस और बरार से आए एच.जे. खाण्डेकर ने 21 जनवरी 1947 को उन 'एक करोड़ लोगों की बात उठायी जो जन्म लेते ही बिना किसी जुल्म के जरायम पेशा मान लिये जाते हैं'। उन्होंने इस समुदाय के लिए सुरक्षात्मक उपाय लागू करने की अपील की।[36] 21 नवम्बर 1949 को एक बार फिर उन्होंने संविधान सभा का ध्यान आकर्षित करने की कोशिश की। उन्होंने कहा कि इस संविधान के अधीन बोलने की आज़ादी और कहीं भी आने-जाने की आज़ादी तो दी जा रही है लेकिन देश के एक करोड़ अभागे नागरिकों को आने जाने की आज़ादी नहीं है। यहाँ की अपराधी जनजातियों को कहीं भी आने-जाने की सुविधा अभी प्राप्त नहीं है। इस संविधान में

इनके बारे में कुछ नहीं कहा गया है। क्या शासन 'क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट' को हटाकर उन लोगों को स्वतन्त्रता प्रदान करेगा?[37] संविधान सभा में इस बात पर आगे कोई चर्चा तो नहीं हुई लेकिन उसी वर्ष 28 सितम्बर 1949 को ही गृह मन्त्रालय ने अनन्तशयनम अयंगर की अध्यक्षता में एक 'क्रिमिनल ट्राइब्स इनक्वायरी कमेटी' का गठन कर दिया था और 1950 में जब इसकी रिपोर्ट आयी तो इन समुदायों का दुर्भाग्य देखिए कि एक बार फिर कहा गया कि यह समुदाय बस तो जाएँगे लेकिन अपराध करते रहेंगे। इसलिए उन्हें 'आदतन अपराधी' अधिनियम में पाबन्द किया जाए। साथ ही उन्हें मुख्यधारा में लाने के लिए ईमानदारी और कर्मठता के जीवन में लाने की बात की गयी। इस तरह कमजोर और सुभेद्य समुदायों की ईमानदारी और कर्मठता का अभिभावकत्व आज़ाद भारत की सरकार ने ले लिया। यह अभी भी यदा-कदा प्रकट होता रहता है। पहले जो समुदाय 'नोटीफाइड' थे, अब वे 'डि-नोटीफाइड' हो गये। पहले वे अपराधी कहे जाते थे। अब कहा गया : 'अब आप अपराधी नहीं माने जाएँगे।' यह एक दूसरी कम अपमानजनक पहचान को इन समुदायों पर आरोपित कर देने जैसा था। इन्हीं समुदायों को 'विमुक्त' समुदाय कहा जाता है। निषाद अब विमुक्त समुदाय में शामिल थे। अपनी इसी पहचान के साथ निषाद समुदाय ने आज़ाद भारत के पहले दशक में प्रवेश किया।

नदी पर क़ब्जेदारी

साम्राज्यों का निर्माण भू-दृश्य पर क़ब्जा किये बिना सम्भव नहीं होता है। इतिहास के अधिकांश युद्ध नदियों, पर्वतों और उसके विस्तृत भू-दृश्य पर क़ब्जे के युद्ध हैं। भारत पर यूरोपीय शासन के विस्तार और नियन्त्रण की परियोजनाएँ भी इसी तरह आगे बढ़ीं। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर 1857 तक भारत की एक-एक नदी, पहाड़, पठार को जीता गया और 1857 के बाद उनका भौगोलिक

वर्गीकरण किया गया। उनको आर्थिक और सामरिक रूप से प्रयोज्य बनाने के प्रयास किये गये। नदियों की इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। उसे निरापद और आधुनिकीकृत करने की परियोजनाएँ शुरू की गयीं। उनसे नहरें निकाली जाने लगीं और बाँध बनाने का आधार तैयार किया जाने लगा। एक शताब्दी से भी कम समय में गंगा जैसी विशाल और महान नदी को एक मशीन में बदल दिया गया। 1854 के बाद सतत रूप से बाढ़-नियन्त्रण, सूखे के प्रभाव को कम करने और सिंचाई परियोजनाओं को लागू करने के क्रम यह नदी नवीन प्रकार के संकटों से घिरती गयी।[38] इस प्रकार एक नदी को साम्राज्य की सेवा में जोत दिया गया और कहा गया कि यह देश और उसकी प्रजा के लिए आवश्यक कदम है। नीलाद्रि भट्टाचार्य इस परिघटना को उपनिवेश द्वारा किया गया 'आधुनिकता का वादा और विकास का विरोधाभास' कहते हैं।[39] कानूनों की एक श्रृंखला द्वारा वनों और नदियों को कब्ज़े में लाया गया। यहाँ तक कि भू-दृश्य (लैण्डस्केप) को आधुनिकीकृत करने के नाम पर राजस्व योग्य खेती के विचार को बढ़ावा दिया गया। वास्तव में भूमि सम्बन्धित नियम तो बहुत पहले ही बन चुके थे। उपनिवेश की शुरुआत तो इन्हीं नियमों से हुई थी। फिर भी इसे एक और त्वरण बीसवीं शताब्दी में उस समय मिला जब औपनिवशिक शासन ने भू-दृश्य और पर्यावरण को पुनर्रचित करने की परियोजना में विज्ञान और तकनीक ने मदद ली। इसे उत्तर औपनिवेशिक समय में भी जारी रखा गया जिसके दुष्परिणाम के रूप में समुदायों और राज्य में लगतार संघर्ष और अविश्वास बढ़ा है और 'कानून का शासन' लागू करने के लिए राज्य ने समुदायों पर बल-प्रयोग की बारम्बारता बढ़ा दी है।

औपनिवेशिक भारत में भारतीय समाज और भू-दृश्य को पाबन्द करने के क्रम में ब्रिटिश प्रभुसत्ता अपने को विभिन्न रूप में प्रकट करती रहती थी।[40] नदियों पर नियन्त्रण की शुरुआत में नदियों पर कब्ज़ा जमाया गया, उनकी गहराई नापी गयी। इलाहाबाद में गंगा

नदी का मानचित्रण अप्रैल 1886 में किया गया जब नदी अपेक्षाकृत शान्त होती है।[41] पहले नदी एक अखण्ड धारा होती थी अब उसे 'सही ढंग से प्रशासित करने के लिए' उसे छोटे हिस्सों में बाँटकर उसे उन जिलों के अधिकारियों के नियन्त्रण में कर दिया गया जहाँ से नदी गुजरती थी। इसे वर्गीकृत रूप से प्रशासनिक अधिकारियों के नियन्त्रण में दे दिया गया। इसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए नॉर्दर्न इण्डिया फेरी'ज एक्ट, 1878' लाया गया जिसके द्वारा नाविकों द्वारा नदी में नाव चलाने की गतिविधि को नियन्त्रित किया गया।[42] यह भी निर्धारित किया गया कि नदी में चलने वाली नावों का आकार क्या होगा और उसमें कितनी सवारियाँ बैठेंगी।[43] इस व्यवस्था में दूरी और इलाकों को भी पाबन्द किया गया। यह निर्धारित कर दिया गया कि एक निश्चित लाइसेंस के साथ कोई नाव कितनी दूर तक जाएगी।[44] गंगा नदी के किनारे ऐसे स्थानों पर अधिक निगहबानी की गयी जो महत्त्वपूर्ण थे, मसलन इलाहाबाद और बनारस के बीच के इलाक़े। इलाहाबाद और दीनापुर के बीच नाव चलाने पर कर लगाया गया। इसे 1867 में पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेण्ट के द्वारा बनाये गये नियम के तहत लागू किया गया था।[45] इस समय तक गंगा नदी में स्टीमर चलने लगे थे इसलिए उन पर भी कर लगाया गया। यह स्टीमर व्यापारिक गतिविधियों को समर्पित थे। बाद में वे साम्राज्य के सेवक साबित हुए। स्टीमर यह भी प्रदर्शित कर रहे थे कि नदियों को अब विजित किया जा चुका है।[46] इसमें चिन्ताजनक बात यह थी कि इन्हीं नियमों को स्थानीय नावों और उनके मालिकों पर भी लागू कर दिया गया। इससे निषादों का नदी-व्यापार पग-पग पर औपनिवेशिक शासन के नियन्त्रण में आ गया। देसी नावें या 'कण्ट्री बोट्स' इन कानूनों का शिकार हो गयीं। नावों का आकार और उन पर लादे जाने वजन की मात्रा निर्धारित हो गयी। मिर्ज़ापुर और बनारस में इन करों को इकट्ठा करने के केन्द्र बने। इन्हें वसूलने की जिम्मेदारी कलेक्टर को दी गयी।[47]

कालान्तर में यह कानून मेले के दौरान तीर्थयात्रियों और नाविकों की गतिविधि निर्धारित करने का एक हथियार भी बन गये। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक नदी पर ब्रिटिश शासन का पूरा नियन्त्रण स्थापित हो चुका था। बनारस में गंगा नदी में नावों के ऊपर और उसके किनारे मेले आयोजित होते थे। इसको शासन की नज़र में लाया गया। मेलों के दौरान पेट्रोलिंग नावों की व्यवस्था की जाती थी। इसके साथ ही नावों से कड़ाई से कर वसूला भी गया। बनारस के कमिश्नर की फ़ाइल यही बताती है।[48] इन कानूनों के अच्छे और बुरे परिणाम सामने आए। नाविकों को नाव का लाइसेंस लेने से एक लाभ यह हुआ कि वे दबंगों और अपराधियों से सुरक्षित महसूस करने लगे। बुरा परिणाम यह हुआ कि इससे घाटों का ठेका लेने की प्रथा बड़ी तेजी से फैली और नदी के आसपास एक प्रभुताशाली वर्ग का निर्माण होने लगा।

एक समय ऐसा आया जब यह नाकाफी लगने लगा तो इलाहाबाद, बनारस, पीलीभीत, मुरादाबाद और हरिद्वार आदि इलाकों में लगने वाले मेलों को नियन्त्रित करने के लिए कानून लाया गया। इसका घोषित उद्देश्य मेले से सम्बन्धित 'सार्वजनिक व्यवस्था' को दुरुस्त करना था लेकिन इसके पीछे का मन्तव्य सार्वजनिक दायरे और उनमें होने वाली गतिविधियों पर राज्य का नियन्त्रण कायम करना था जिससे भारत की प्रजा की आन्तरिक गतिकी को नियन्त्रित किया जा सके। इसके पहले नियन्त्रण के आदेशों को स्थानीय अधिकारियों मसलन आयुक्त और जिलाधिकारी द्वारा जारी किया जाता था, बाद में इसके लिए बाकायदा एक बिल लाया गया। 1938 में यह एक्ट के रूप में परिवर्तित हुआ। इस एक्ट का नाम था : 'यूनाइटेड प्रोविंसेज मेला एक्ट, 1938' था। उस समय गोविन्द बल्लभ पन्त उत्तर प्रदेश के प्रीमियर (आज की भाषा में मुख्यमन्त्री) थे और इलाहाबाद के मेले को अनुशासित करना इनका लक्ष्य था। इस बिल में मेले को परिभाषित किया गया कि वह एक 'धार्मिक क्षेत्र है जिसमें धार्मिक उद्देश्यों के लिए लोग इकट्ठा होते हैं। इस बिल में 'मेला क्षेत्र' को

परिभाषित करने का अधिकार जिलाधिकारी को दिया गया था।[49] इस प्रकार मेला और उसमें सम्पादित होने वाली गतिविधियाँ सीधे सरकार के नियन्त्रण में आ गयीं। इस एक्ट के तहत मेले के दौरान 'नदी की धारा' भी स्वतः सरकार के नियन्त्रण में आ जाती थी। इसके द्वारा मेले के दौरान गंगा और यमुना नदियों में नावों के परिचालन को नियन्त्रित किया जाता था। उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार में कुम्भ और माघ मेले से सम्बन्धित विभिन्न वार्षिक रिपोर्टें इस बात को प्रमाणित करती हैं। 1909 की माघ मेला रिपोर्ट उन प्रशासकीय कदमों का वर्णन करती है जो गंगा और यमुना की धारा में नावों को चलाने के लिए उठाये गये थे। नावों को जोड़कर एक प्लेटफ़ॉर्म बनाया जाता था। वहाँ पहुँचकर लोग स्नान करते थे। एक समय में 500 लोग तक स्नान कर सकते थे। संगम पर जब नावों का एक समूह पहुँच जाता था तो दूसरे समूह को जाने की इजाजत दी जाती थी। इसके साथ ही साथ यमुना की तरफ जीवन रक्षक नावों की तैनाती भी की जाती थी। नाव चलाने वाले नाविकों को पास दिया जाता था।[50] इतिहास में जिसे 'परिवर्तन और निरन्तरता के तत्त्व' कहा जाता है, उसे ठीक से देखना हो तो कोई उसे उत्तर प्रदेश की नदियों के किनारे देख सकता है। यहाँ आपको कौटिल्य के अर्थशास्त्र से लेकर औपनिवेशिक प्रशासकों की नीतियों के अवशेष स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ेंगे।

बदलता हुआ पेशा और नयी चुनौतियाँ

इस अध्ययन को इलाहाबाद जिले के आसपास ज्यादा केन्द्रित रखा गया है लेकिन इसका विस्तार कानपुर, वाराणसी और चन्दौली जिलों तक है। इसके निम्नलिखित कारण हैं : यह जिला उस जगह पर स्थित है जहाँ गंगा और यमुना नदियाँ आपस में मिलती हैं। ऐतिहासिक रूप से यह सहस्राब्दियों से आबाद रहा है। उत्तर भारत के इतिहास को रूप प्रदान करने में इस जिले की भौगोलिक, सांस्कृतिक, धार्मिक

और राजनीतिक भूमिका रही है। यह शोध परिधीय समुदायों पर औपनिवेशिक शासन के विनाशकारी प्रभाव की चर्चा भी करता है और भारत पर क़ब्जा करने की औपनिवेशिक परियोजना का यह जिला गवाह रहा है। सामाजिक और राजनीतिक रूप से भी यह जिला निषाद समुदाय के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वर्तमान में इलाहाबाद में छोटी-बड़ी कुल बत्तीस नदियाँ हैं।[51] इसमें भी गंगा, यमुना और टोंस बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। प्रायः इन सभी नदियों के किनारे निषाद पाये जाते हैं।

वर्तमान समय के इलाहाबाद जिले में गंगा और यमुना नदियों के दोनों तटों पर निषादों की बस्तियाँ हैं। गंगा के किनारे की जो बस्तियाँ संगम क्षेत्र से लगभग बीस-पच्चीस किलोमीटर की दूरी पर हैं, वहाँ के निषादों को संगम तक पहुँचना सुगम रहता है। मेले के दिनों में अन्य जगहों के निषाद भी यहाँ पर आते हैं। उदाहरण के लिए वर्ष 2013 और 2019 में आसपास के जिलों जैसे वाराणसी, गोरखपुर, अयोध्या और कौशाम्बी के नाविक भी यहाँ आए थे। यह लोग अपनी रिश्तेदारियों, जातीय संगठनों सहित विभिन्न औपचारिक एवं अनौपचारिक माध्यमों से जुड़े रहते हैं और मेले का समय जब प्रचुर रोजगार होता है तो उस समय यहाँ चले आते हैं। फिर भी जैसा हमने इस पुस्तक के फ़ील्डवर्क में पाया है कि अभी पिछले दशकों तक पूर्वी उत्तर प्रदेश में नदियों के किनारे बसे निषादों की जीविका का आधार नदियाँ मुहैया कराया करती थीं लेकिन अब ऐसा नहीं रह गया है।

अब नदी और निषाद के सम्बन्धों में बदलाव आ रहा है। एक तो तकनीक ने मनुष्य और प्रकृति के बीच हर तरह के सम्बन्ध को या तो विरूपित कर दिया है, बदल दिया है या किन्हीं मामलों में समाप्त कर दिया है। दूसरी पक्ष यह भी है कि आधुनिक शिक्षा ने भी भारतीय समाज में जाति की पेशा-आधारित पहचान को बदला है। एक सीमित स्तर पर निषाद समुदाय में शिक्षा का प्रसार हुआ है, भले

ही उन्हें सरकारी नौकरी या कार्पोरेट की नौकरी न मिले लेकिन अब वे शहरों की तरफ रुख कर रहे हैं। इस परिवर्तन का एक अन्य मुख्य कारण यह भी रहा है कि निषादों की यह पहली पीढ़ी है जो विद्यालय गयी है, वह नदियों में नाव लेकर नहीं गयी है। अब वह उस कार्य से अपना दामन छुड़ा लेना चाहती है। वह देश और दुनिया की मुख्यधारा से जुड़ना चाहती है।[52] इस ओर भी ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है कि इलाहाबाद और वाराणसी भारत के प्रसिद्ध तीर्थ स्थल हैं जहाँ निषाद अपनी जीविका नाव चलाकर पूरी करते हैं और इन स्थानों पर गंगा नदी पर ज्यादा शोध कार्य हुआ है। निषादों पर उतना ध्यान नहीं दिया गया। जो अध्ययन हुए भी हैं वे निषादों की पारम्परिक छवियों की पड़ताल ही करते हैं जबकि समाज के अन्य हिस्सों की तरह निषादों के पेशों में परिवर्तन आ रहा है अथवा जो बृहत्तर परिवर्तन हो रहे हैं, उन्होंने निषादों को नये पेशों को अपनाने को बाध्य किया है, इसे रेखांकित किया जाना जरूरी है। इस बात को निश्चित ही नकारा नहीं जा सकता है कि इलाहाबाद और वाराणसी पर बहुत शोधकार्य हुआ है, उसमें से भी वाराणसी पर अधिक शोधकार्य हुआ है। इन शोधकार्यों में गंगा की एक बनी-बनायी छवि को बार-बार प्रस्तुत किया जाता रहा है, पिछले पाँच-छह वर्षों में इस तरह की किताबें खूब आयी हैं जिनमें नदी तो है लेकिन मनुष्य नहीं हैं। यदि मनुष्य हैं तो उसमें केवल तीर्थ यात्री हैं, नदी के किनारे रहने वाले लोग नहीं हैं।[53] फिर भी, इसी बीच में कुछ ऐसे काम आए हैं जिनसे यह शिकायत नहीं की जा सकती है, मसलन अस्सा डोरोन का काम। हाँ, इसमें निषादों के बदलते पेशों और उनके चयन पर ध्यान नहीं दिया गया है। इसके लिए सर्वथा एक नयी बौद्धिक और अनुशासनात्मक भावभूमि की ओर जाना पड़ेगा। डाक्युमेण्ट्री फोटोग्राफर रघुबीर सिंह ने 1970 में वाराणसी के निकट ताजपुर गाँव को जब देखा था तब वहाँ लगभग आधा गाँव गंगा नदी में मछली मारने का काम करता था। 1989 में जब वे फिर वहाँ गये तो वहाँ चार लोग ही इस व्यवसाय में संलग्न

थे, एक व्यक्ति ने पान लगाने की गुमटी खोल ली थी और कई लोग खाड़ी देशों में चले गये थे। पचीस निषादों ने भवन निर्माण में मजदूरी का काम अपना लिया था। नदी में प्रदूषण और नायलॉन के जाल के कारण मछलियाँ लगातार कम होती गयी थीं और अब मछली के शिकार से जीविका चलाना मुश्किल हो गया था। यह दिखाता है कि नदी और नदी से बाहर हुए परिवर्तनों ने निषादों को अपना पेशा बदलने और नये पेशों में जाने को प्रेरित किया है।[54] अपने एक फोटोग्राफ के नीचे परिचय में वे एक दिलशिकन पंक्ति लिखते हैं : अ फॉर्मर फिशरमैन, नाउ अ कंस्ट्रक्शन वर्कर, ताजपुर, 1989—एक भूतपूर्व मछुआरा, अब निर्माण कार्य में मजदूर, ताजपुर, 1989। यह दिखाता है कि मछुआरों का एक पूरा गाँव कैसे 'भूतपूर्व' हो गया है और वहाँ के लोग दिहाड़ी मजदूर में तब्दील हो गये।[55] इस बात को डी.आर. नागराज ने 'टेक्नोसाइड' कहा है जिसे इस किताब में आगे स्पष्ट किया जाएगा।

नदी पर सबका हक़ है

नाव भारत की विभिन्न संस्कृतियों में एक रूपक है जिसमें वह जीवन में भौतिक और परा भौतिक नदियों को पार कराती है। अनाम और बहुत ही छोटी नदी क्यों न हो, वहाँ कोई न कोई नाव लिये उपस्थित रहता है। चूँकि लोगों को पार जाना होता है तो उन्हें एक नाविक की आवश्यकता होती है। इस एक भाव ने गीत, किस्से, उपन्यास और नाना प्रकार के कला रूपों को जन्म दिया है। इससे भी ज्यादा इसने एक पेशे को जन्म दिया है। गंगा नदी के ठीक किनारे नाविकों की बस्तियाँ ऐतिहासिक रूप से बसती गयीं। यह नदी प्रायः नौवहनीय है इसलिए भी इसके किनारे नाविक बसते गये।

जनवरी माह के पश्चात गंगा की धारा काफी पतली हो जाती है तो इसके तट के ऊपर लाखों एकड़ का भूभाग इनके लिए उपजाऊ

खेतों का काम करता है। सामान्यतः मानव स्वभाव भूमि या किसी भी प्रकार के संसाधन और सम्पत्ति को लेकर झगड़ालू होता है। राज्य की उत्पत्ति का एक सिद्धान्त यही है कि उसका जन्म भूमि सम्बन्धी झगड़ों को शान्त करने के लिए हुआ था। एक आपसी समझ के आधार पर निषाद समुदाय के लोग खेतों का बँटवारा करके इनके ऊपर हरी सब्जियों, खीरा, ककड़ी, खरबूज और तरबूज की खेती करते हैं। साझा साम्पत्तिक अधिकारों का बिना किसी विवाद के प्रयोग का यह एक उत्तम उदाहरण है। ऐसा उदाहरण पूरी दुनिया में पर्वतों और समुद्रतटों पर बसे समुदायों में भी देखा जा सकता है।[56] भारत के प्राचीन समुदायों के सन्दर्भ में अनुपम मिश्र इसे 'स्वामित्व विसर्जन' यानी मिल्कियत मिटाने का विचार कहते हैं।[57] इसी प्रकार एलिनर ओस्ट्रम ने कनाडा के न्यू फाउण्डलैण्ड और नोवा स्काटिया के तट पर बसे मछुआरों के गाँवों के फ़ील्ड अध्ययन के बाद दिखाया है कि किस प्रकार वे मत्स्य संसाधनों का प्रबन्धन करते हैं।[58] यह मिल्कियत मिटती नहीं लेकिन उस पर खसरा-खतौनी वाला दावा भी काम नहीं करता है बल्कि एक समझदारी काम करती है जिसका आधार समुदाय द्वारा निर्धारित किये गये मानक होते हैं। निषाद जन निकटवर्ती इलाहाबाद शहर में इसकी बिक्री करके उन महीनों के लिए बचत करने का प्रयास करते हैं जब गंगा नदी में विकराल रूप से बाढ़ आयी हुई होती है।

सदानीरा होने के बावजूद गंगा का जलस्तर बहुत कुछ मानसून पर भी निर्भर करता है। सितम्बर में जब मानसूनी वर्षा समाप्त हो चुकी होती है और गंगा का जल स्तर सामान्य स्तर प्राप्त कर चुका होता है तो इसी समय हिन्दुओं के द्वारा पितृपक्ष मनाया जा रहा होता है। इलाहाबाद जिला गंगा और यमुना नदियों से तीन ओर से घिरा है। इलाहाबाद जिले में इन नदियों के किनारे 44 नौ-परिवहनीय घाट हैं : 21 गंगा पर, 21 यमुना पर और 2 टोंस नदी पर।[59] इनमें सबसे ज्यादा संगम क्षेत्र में बने घाट महत्त्वपूर्ण हैं। गंगा और यमुना के दोनों

किनारों के साथ बसे गाँवों के अतिरिक्त इलाहाबाद जिले के अन्दरूनी इलाकों में निषादों की एक बड़ी जनसंख्या निवास करती है। जिस नदी का जैसा सांस्कृतिक, आर्थिक और धार्मिक महत्त्व है, उसी प्रकार से इसके किनारे रहने वाले निषादों का जीवन है। जैसा हम आगे देखेंगे कि इलाहाबाद में ही गंगा के किनारे बसने वाले और यमुना के किनारे बसने वाले निषादों में सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से पर्याप्त अन्तर हैं। इलाहाबाद में गंगा और यमुना के किनारे बसे निषाद दावा करते हैं कि जब से ये नदियाँ हैं, तब से वे भी इसी के किनारे बसे हैं और यही उनकी जीविका का स्रोत हैं।

तीर्थ, स्नान और नदी को पार करना

> बड़े-बड़े धर्म ग्रन्थ नहीं, हम मल्लाह ही आपको इस दुनिया में और उस दुनिया में पार लगाते हैं। लेकिन देखिए तो सरकार हमें ही पार लगा रही है।

राजन मन्त्री ने यह बात 2010 के नवम्बर महीने में कही थी। जनवरी महीने में गंगा–यमुना के संगम पर मेला लगता है और इसके लिए मेले से जुड़ा हुआ प्रत्येक पक्ष तैयारी करने लगता है। संगम पर एक अस्थायी नगर बसाया जाने लगता है और देश–दुनिया से श्रद्धालु, पत्रकार और शोधकर्ता आने लगते हैं। यह सभी निषादों के सम्भावित ग्राहक होते हैं जो उनकी नाव पर बैठकर गंगा–यमुना के ठीक संगम पर जाना चाहते हैं, धार्मिक कर्मकाण्ड करते हैं, आमोद–प्रमोद के लिए नौका विहार करते हैं। समय–समय पर लोग आमोद–प्रमोद के लिए और जीवन संस्कारों जैसे मुण्डन, विवाह, पुत्र जन्म और मृत्यु के उपरान्त अपने प्रियजनों की अस्थियों के साथ नदी के किनारे आते हैं। ऐसे में नाविक उन्हें नदी के उस पार या बीच में ले जाने का माध्यम बनता है। नदी को पार कराने की यह शक्ति उन्हें एक नैतिक शक्ति प्रदान करती है और यह अकारण नहीं है कि तमाम लोकगीतों

में नाविक की प्रशंसा मिलती है और यहाँ तक कि हिन्दू धार्मिक विश्वासों में भवसागर को पार कराने वाले सर्व-शक्तिमान ईश्वर को भी नाविक कहा जाता है। यह बात नाविक और उसके सवारियों को पता रहती है लेकिन इसके बावजूद वे धरती के ईश्वर 'सरकारी अधिकारियों' से डरते हैं, उनसे चिरौरी करते हैं और एक स्थिति के बाद संघर्ष करते दीख पड़ते हैं। 'ऊपर अल्लाह, नीचे मल्लाह' यह पहले कहावत थी लेकिन अब तो डीएम साहब ही अल्ला मियाँ हैं। उस दिन राजन मन्त्री ने हँसते हुए कहा था। उनके स्वर में एक विषाद भी था।

वर्ष 2013 में कुम्भ मेला का आयोजन 14 जनवरी से 10 मार्च तक हुआ। इस बीच कुल छह पर्व पड़े जिन पर एक अनुमान के मुताबिक तीन करोड़ तीर्थ यात्रियों के आने की बात की जा रही है। 14 जनवरी को मकर संक्रान्ति, 27 जनवरी को पौष पूर्णिमा, 10 फरवरी को मौनी अमावस्या, 15 फरवरी को बसन्त पंचमी, 25 फरवरी को माघी पूर्णिमा और 10 मार्च को महाशिवरात्रि का स्नान पड़ा। इसी प्रकार 2019 का एक सामान्य कैलेण्डर देखा जा सकता है जिससे इन पर्वों की लोकप्रियता[60] का पता लगता है। वर्ष 2010 से लेकर फरवरी 2020 तक के फ़ील्ड सर्वे में मैंने निषादों से बातचीत में पाया है कि वे कुम्भ मेले का इन्तज़ार करते रहते हैं और अपने आपको इसके लिए वर्ष भर तैयार करते हैं। जब उन्हें लगता है कि इसमें कोई अड़चन आएगी या ऐसी कोई अड़चन आ ही जाती है तो वे इसका विरोध करते हैं। इसके लिए वे फ़रियाद और आन्दोलन का सहारा लेते हैं। यह बहुत कुछ संख्या, गोलबन्दी की तात्कालिक क्षमता और प्रशासन के रवैये पर निर्भर करती है। यदि संख्या कम हुई तो वे फ़रियाद करेंगे और यदि वे एक बड़ी संख्या इकट्ठा करने में कामयाब हो जाते हैं तो आन्दोलन का सहारा लेते हैं। इसके लिए बाकायदा उन्होंने कई संगठन स्थापित किये हैं। उनमें से एक का नाम है—जिला निषाद सभा बोटमेंस उत्थान समिति (नाविक संघ),

प्रयाग, इलाहाबाद। राजेश कुमार निषाद इसके अध्यक्ष हैं और वे गंगा के किनारे बसे दारागंज मुहल्ले के पार्षद भी हैं। इस संगठन से कई वर्षों से जुड़े राजन निषाद उर्फ राजन मन्त्री बताते हैं कि पिछले कई साल से माघ मेले के दौरान प्रशासन मुख्य पर्व/स्नान के समय निषादों को नाव चलाने से रोकता रहा है जबकि किसी अप्रिय घटना होने पर निषादों को घाट पर ही बने रहने को कहा जाता है। इसके लिए प्रशासन तर्क देता है कि नदी में भीड़ बढ़ने से नाव उलट सकती है। अपना पक्ष रखते हुए निषादों का कहना था कि वे तय सीमा के अन्दर ही नाव चलाते हैं। प्रशासन प्रत्येक नावधारी को एक लाइसेंस देता है जिसे प्रतिवर्ष पुनर्नवीनीकृत कराना होता है। जैसे होता है कि यदि निषाद के पास उसकी अपनी नाव हो तो वह काफी आश्वस्त रहता है कि कभी भी जीविका कमायी जा सकती है। एक नाव में केवल चौदह सवारियों को बैठने की अनुमति होती है। नाव का किराया भी निर्धारित किया गया है। एक अनुमान के मुताबिक मेले के चरम दिनों में पचहत्तर लाख के आसपास श्रद्धालु हो सकते हैं। जिस वर्ष कुम्भ का मेला पड़ता है, उस वर्ष यह संख्या एक करोड़ पार कर जाती है।

संगम क्षेत्र में भले ही यह मेले बहुत ही कम समय के लिए के लिए लगते हैं लेकिन वे गहन रूप से निषादों सहित स्थानीय लोगों को रोजगार उपलब्ध कराते हैं। कुम्भ का मेला या माघ का मेला इस प्रकार उनकी वार्षिक अर्थव्यवस्था में केन्द्रीय स्थान रखता है। निषादों को लगता था कि यदि इस अवसर पर उन्हें नाव चलाने की अनुमति नहीं मिली तो आने वाले समय उनके लिए काफी मुश्किल भरे हो सकते हैं। इन्हीं सब कारण से राजन का मानना था कि निषादों को मेले के प्रत्येक दिन नाव चलाने की अनुमति मिलनी ही चाहिए। वर्ष 2012 में उन्हें मुख्य स्नान के दिन संगम क्षेत्र में नाव चलाने की अनुमति मिल गयी थी। स्थानीय नाविक इसका कारण अपने दशकों पुराने आन्दोलन को देते हैं। वे यह भी चर्चा कर रहे थे कि यह वर्ष चुनावी वर्ष था और मार्च 2012 में ही उत्तर प्रदेश में विधानसभा चुनाव होने

जा रहे थे, इसलिए प्रदेश सरकार निषादों को नाराज नहीं करना चाहती थी। अभी हाल ही तक उत्तर प्रदेश की चुनावी राजनीति में निषाद समाजवादी पार्टी (सपा) के परम्परागत समर्थक माने जाते रहे हैं। हम एक समाचारपत्र में छपे समाचार को आगे प्रस्तुत कर रहे हैं :

> नाविक यूनियन ने माघ मेला प्रशासन की सराहना की है। यूनियन की बैठक में मन्त्री अनु सिंह ने कहा कि मेला प्रशासन ने इस बार सभी तरह की नावों को चलाने की अनुमति दी, जो 14 साल में पहली बार हुआ। प्रशासन ने यूनियन के ज्ञापन, आन्दोलन, आजीविका की सुरक्षा का पालन किया। एलनगंज में हुई बैठक की अध्यक्षता लालता निषाद ने की।[61]

वास्तव में कुम्भ मेला सरकार के लिए राजस्व का एक बड़ा स्रोत है और करोड़ों पर्यटक इलाहाबाद आते हैं न तो समाचारपत्र और न सरकारें ऐसा कोई संकेत देना चाहती हैं कि संगम पर कुछ अयाचित स्थितियाँ भी हैं। वास्तव में निषादों की आवाज़ों को अनसुनी रह जाने और उनके विरोध को सामान्य लोगों की नज़र में न आने देने की एक प्रक्रिया हमारे सामने आती है जब हम दिल्ली, इलाहाबाद या लखनऊ से प्रकाशित होने वाले दैनिक समाचार पत्रों के राष्ट्रीय और स्थानीय संस्करणों में निषादों के बारे में कोई ख़बर ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। मैंने द हिन्दू, हिन्दुस्तान टाइम्स, टाइम्स ऑफ़ इण्डिया, जनसत्ता, दैनिक जागरण, अमर उजाला और दैनिक हिन्दुस्तान समाचार पत्रों के विगत 10 वर्षों में छपे समाचारों का एक सर्वेक्षण से यह बात पता चलती है कि निषादों की समस्याओं के बारे में यह सभी समाचार पत्र लगभग चुप रहते हैं जबकि कुम्भ को एक लोकप्रिय धार्मिक और पर्यटक स्थल के रूप में पूरे के पूरे पृष्ठ आवंटित किये जाते हैं। इन समाचार पत्रों में निषादों से सम्बन्धित समाचारों की संख्या दो अंकों में भी नहीं है। जब जनवरी 2013 में कुम्भ का मेला आरम्भ हुआ तो कुम्भ मेले के बारे में मीडिया का यह दृष्टिकोण कायम रहा। वर्ष 2012 के दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह से लेकर फरवरी 2013 तक

स्थानीय समाचार पत्रों ने कम से कम तीन पृष्ठ कुम्भ की अन्य ख़बरों को दिया जबकि जनवरी 2013 में ही जब निषादों के विरोध प्रदर्शन हुए भी तो इसे बहुत ही कम महत्त्व दिया गया। निषादों के लिए थोड़ी आशा की बात यह रही कि इलाहाबाद से प्रकाशित हिन्दी के एक अख़बार ने इसे प्रमुखता से जगह दी।

वर्ष 2012 में उत्तर प्रदेश की विधानसभा के आम चुनाव के बाद एक परिवर्तन यह भी आया कि प्रदेश सरकार निषादों के प्रति नरम हुई। इसके बाद वर्ष 2014 का लोकसभा का आम चुनाव हुआ। स्वयं प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी ने इलाहाबाद की एक चुनावी सभा में 'निषादराज' के गौरव की बात की थी। इस लोकसभा के चुनावों में जीत और आगामी समय में होने वाली राजनीति में निषाद समुदाय एक महत्त्वपूर्ण ताकत थे, जिन्हें नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता था। इस विषय पर अगले अध्याय में विस्तार से बात की गयी है।

गंगा नदी के किनारे खेती

फरवरी (फागुन) बीतते-बीतते संगम किनारे अस्थायी रूप से बसा हुआ पूरा मेला क्षेत्र खाली हो जाता है। जब गंगा की धारा सिमट रही होती होती है तो इसके तट के ऊपर खाली हुई लाखों एकड़ जमीन निषादों को एक बार फिर जीविका उपलब्ध कराती है। एक आपसी समझ के आधार पर निषाद समुदाय के लोग खेतों का बँटवारा करके इनके ऊपर हरी सब्जियों, खीरा, ककड़ी, खरबूज और तरबूज की खेती करते हैं। इसके लिए खाली पड़ी भूमि को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटते हैं। इन्हें थाला कहते हैं। एक थाले में तरबूज, खरबूज, खीरे, ककड़ी या लता वाली अन्य सब्जियों दस से बीस लताओं को लगाया जाता है। यह कार्य श्रम-गहन होता है और लगभग पूरा परिवार इसमें संलग्न होता है। बीज और कीटनाशकों की लागत निकालने के बाद एक सामान्य सा लाभ बच जाता है। इसके अतिरिक्त तट पर

ही अपेक्षाकृत ऊँची भूमि पर अनाजों की खेती की जाती है। इनमें अधिकांश खेत बहुत ही छोटे रकबे के होते हैं। ये खेत सरकण्डों या ऐसे ही अन्य नष्टप्राय चीजों से चिह्नित कर एक-दूसरे से अलग किये जाते हैं। हम सभी जानते हैं कि उत्तर भारत की नदियाँ मार्ग बदलती रहती हैं, इसलिए इनकी अवस्थिति बदलती रहती है। यदि किसी स्थान से बहुत बड़ा टुकड़ा नदी के बहाव में विलीन हो जाए या कोई गोखुर झाल का निर्माण न हो जाए तो इसके किनारे रहने वाले लोग आपसी समझ से इनकी अवस्थिति निर्धारित कर खेती करते रहते हैं। निकटवर्ती इलाहाबाद शहर और कस्बों में अपनी उपज की बिक्री करके वे उन महीनों के लिए बचत करने का प्रयास करते हैं जब गंगा नदी में विकराल रूप से बाढ़ आयी हुई होती है।

खाद्य संस्कृति के रूप में मछली और निषाद

भारतवासियों की खाद्य आदतें कभी भी एक जैसी नहीं रही हैं और न ही भारत शाकाहारियों का ही देश रहा है। हम आज भी भारत के गाँवों में देख सकते हैं कि जिन समुदायों के पास जमीन नहीं है, वे मांसाहारी हैं। एक पूरी की पूरी जाति चूहा खाने के कारण मुसहर कही जाती है। इसी प्रकार मछली केवल स्वाद की वस्तु और चयन का ही प्रश्न नहीं है बल्कि ऐतिहासिक अपवंचनाओं, भूमि आधारों का कमजोर होना और नदियों से सीधे जुड़े होने के कारण मछली उनकी खाद्य आदत में शामिल है। अशोक के अभिलेखों से संकेत मिलता है कि उस दौर में लोग मछली खाते थे और अपनी अहिंसामूलक नीतियों से प्रेरित होकर उसने अपनी प्रजा से अपेक्षा की थी कि वे मछली न मारें लेकिन हमें इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि सम्राट के इस आदेश के बाद लोगों ने मछली खाना छोड़ दिया हो। निषादों के जीवन में मछली तब भी महत्त्वपूर्ण थी और अपनी प्रजा के सामान्य दैनिक जीवन में हस्तक्षेप न करने वाले दयालु सम्राट ने यह सुनिश्चित किया था कि उन

सरोवरों में अन्य लोग मछली न मारें जिनमें निषाद मछली मारते हों। अशोक के पाँचवें स्तम्भ लेख (दिल्ली-टोपरा) से ज्ञात होता है कि नागवन (हाथियों के वन) में और कैवर्तभोग (केवटों के उपभोग के लिए रक्षित सरोवर) सहित अन्य जीव निकायों में जीवों के मारे जाने की मनाही थी। यहाँ पर इन जीवों में मछलियाँ भी शामिल थीं। मछली और निषाद एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। पूरे सालभर निषादों की जीवन प्रणाली में मछली शामिल रहती है। जुलाई से लेकर नवम्बर तक मछली पकड़ने का सबसे अच्छा वक्त होता है क्योंकि इस समय तालाबों से लेकर नदियों में पर्याप्त जल रहता है।

मछली मारने का काम वहाँ पर ज्यादा होता है जहाँ तीर्थ यात्री और पर्यटक नहीं आते हैं। इसे दूसरे शब्दों में कहें तो निषाद जनों के पास जहाँ विकल्प सीमित हैं, वहाँ मछली एकमात्र विकल्प है। मछली मारने के लिए परम्परागत जालों से लेकर आधुनिक मोटरचालित नौकाओं का प्रयोग होता है लेकिन गंगा नदी में, इलाहाबाद से लेकर चन्दौली जिले तक की धारा में छोटी नावों और परम्परागत जालों का प्रयोग होता है। जिन गरीब निषादों के पास अपनी नाव नहीं होती है, वे दूसरे निषादों की नावों पर दैनिक साझेदार या मजदूर के रूप में काम करते हैं। दैनिक साझेदारी में चार या पाँच लोग मछली का शिकार करते हैं और जो शिकार मिलता है, उसे पहले से ही तय शर्तों के अनुसार आपस में बाँट लेते हैं। यह उस प्राचीन व्यवस्था की याद दिलाता है जहाँ निषाद एक समूह बनाकर नौचालन करते थे। ऐसा हमने पिछले अध्यायों में देखा है कि जब नाव से माल और लोगों का परिवहन करने में निषादों से किसी भी प्रकार की क्षति या दुर्घटना हो जाती थी तो वे इसकी क्षतिपूर्ति एक प्रकार का संयुक्त कोष—ज्वाइण्ट स्टाक बनाकर करते थे। ऐसा मनुस्मृति (8.408) में देखा जा सकता है। वास्तव में आरम्भिक भारत के व्यापारी सम्भावित हानि-लाभ को ध्यान में रखकर आपस में एक करार कर लेते थे। इसके लिए 'सम्भूय समुत्थान' कहा जाता था। यह व्यवस्था एक लम्बे समय तक

भारतीय उपमहाद्वीप में चलती रही।[62] निषाद जन आधुनिक काल की तरह आपस में सामुदायिक आधार पर संगठित होने का प्रयास करते थे जिससे दुर्गम और अयाचित स्थितियों से बचा जा सके।[63] इसके कारण वे आर्थिक गतिविधियों को आगे बढ़ाने के दौरान 'रिस्क' लेने की हिम्मत कर पाते थे। यह एक तरह से सामूहिक बीमा जैसा होता था।

गरीबी की सामूहिकता मनुष्यों को अपास में जोड़ती भी है, विशेषकर उस समय जब वे किसी 'सुपरिभाषित स्पेस' को साझा कर रहे हों। चन्दौली स्थित बलुआघाट के 'मल्लाही' बस्ती में जो निषाद हैं, उनमें से कइयों के पास नाव खरीदने का पैसा नहीं है, ऐसे में वे अपने भाई–बन्धुओं की नाव पर साझेदारी या मजदूरी का काम करते हैं।[64] नावों को आपस में साझा करने की यह व्यवस्था इलाहाबाद, बनारस और कानपुर में भी फ़ील्डवर्क के दौरान हमने लक्षित की है। कानपुर के सरसैया घाट पर एक वृद्ध को मैंने एक–दूसरे निषाद की नाव के लिए ग्राहक लाते और फिर नाव चलाने में सहायता करते देखा है। मैंने उनसे पूछा कि आपकी नाव कहाँ है तो उन्होंने एक लम्बी कथा बतायी जिसका सार यही था कि उनकी नाव गरीबी और कर्ज के कारण बिक गयी और वे दूसरी नाव बनवा न सके। उनके घर में कोई और काम करने वाला भी नहीं था, इसलिए अब वे यही काम कर रहे थे। इसी तरह यमुना के किनारे के गाँवों में बालू खनन में बड़ी नावें काम में आती हैं। इन्हें खरीदना सबके बस की बात नहीं होती है, अतः कमजोर आर्थिक स्थिति के निषाद अपने बान्धवों और गोतियों की नावों पर जीविका कमाने निकल पड़ते हैं। इस व्यवस्था में उन कमजोर निषादों के लिए भी गुंजाइश निकल आती है जिनके पास नाव नहीं है। किसी निषाद के लिए नाव न केवल जीविका का साधन होती है बल्कि यह उसके लिए सामुदायिक प्रतिष्ठा का भी आधार होती है। बांग्ला उपन्यासकार माणिक बंद्योपाध्याय 'पद्मा नदीर माँझी' में ऐसी ही स्थितियों का वर्णन करते हैं जहाँ धनंजय के पास

नाव और जाल है। उसे प्रत्येक रात मछली के शिकार में आधा हिस्सा मिलता है। बचा हुआ आधा हिस्सा कुबेर और गणेश को मिलता है। चूँकि धनंजय का पैसा नाव में लगा था इसलिए वह कम मेहनत करता था जबकि कुबेर और गणेश को कठिन मेहनत करनी पड़ती थी।[65] साहित्य और समाज में एक ही समुदाय के अन्दर विभिन्न तहें विद्यमान रहती हैं जो दिखाती हैं कि मनुष्य एक ही जीवन में कितनी-कितनी बार अवमानित (ह्यूमीलिएटेड) होता रहता है।

इस प्रकार एक ही समय और दायरे में पेशे और जाति की समानता तो देखी जा सकती है लेकिन आर्थिक स्थितियों में अन्तर जीवन की अन्य दशाओं को प्रभावित करने लगता है। किसी समुदाय के अन्दर आर्थिक स्थिति में कमजोरी और अधिक सामाजिक बहिष्करण को जन्म देती है, जीवन और अधिक कष्टकारी हो जाता है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि भारतीय समाज किसी परतदार चट्टान की तरह एक के ऊपर एक अपनी सामाजिक वास्तविकताओं को प्रकट करता है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने इसे ही 'श्रेणीबद्ध असमानता या ग्रेडेड इनइक्वालिटी' कहा था। उनके अनुसार जाति आधारित भारतीय समाज में प्रत्येक जाति किसी न किसी जाति से ऊपर है या नीचे है। कोई एक जाति नहीं है बल्कि किन्हीं जातियों का उच्चताक्रम दूसरी जातियों के सापेक्ष अस्तित्व में है।[66] इसे थोड़ा और व्यापक करें तो यह श्रेणीबद्ध असमानता कभी-कभी स्थानबद्ध हो जाती है। किसी स्थान विशेष पर होने पर किसी व्यक्ति या समुदाय की प्रस्थिति (स्टेटस) में परिवर्तन आ जाता है। शहर, स्लम, गाँव, गाँव से बाहर की जगह पर किसी व्यक्ति या समुदाय के बसने से बहुत कुछ निर्धारित होने लगता है। उत्तर प्रदेश के निषादों के बारे में यह कहा जा सकता है। गंगा नदी किनारे के किसी विशेष घाट पर बसा निषाद दूसरी जगह बसे निषादों से उच्च या हीन दशा में पाया जा सकता है। इलाहाबाद में गंगा और यमुना नदी के संगम के आसपास के निषाद अपेक्षाकृत बेहतर दशा में हैं। इसी प्रकार वाराणसी में अस्सीघाट और

उसके आसपास के निषादों को तीर्थयात्री और पर्यटकों से आय हो जाती है। लेकिन जैसा हमने देखा कि वाराणसी जिले की बिल्कुल सीमा पर ही स्थित बलुआघाट के निषादों की कहानी इससे भिन्न है। वहाँ के निषादों को वह स्थानबद्ध लाभ नहीं मिल पाता जो उपर्युक्त दोनों स्थानों के निषादों को मिलता है। समाज विज्ञान के दायरे में गंगा नदी से सम्बन्धित अध्ययनों में 'घाट-केन्द्रित दृष्टिकोण' हमें अधूरी सच्चाइयों की ओर लेकर जाता है। घाट केन्द्रित दृष्टिकोण आधुनिक साहित्य में भी एक दुर्गुण की तरह दिखने लगता है। यह साहित्य के लिए चिन्ताजनक है।

गंगा और यमुना में सिक्कों की खोज, गोताखोरी और शव से जुड़ी अस्पृश्यता एवं रोजगार

भारतीय समाज में जाति और पेशे के सम्बन्ध को देखते समय यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि विभिन्न पेशों के साथ कलंक (स्टिग्मा) को सदैव के लिए नत्थी कर दिया गया है। जातियों के उच्चताक्रम के साथ कलंकों का भी एक अनौपचारिक उच्चताक्रम चलता रहता है। इसी के साथ मुक्ति के दायरों के साथ कलंक के दायरे भी जुड़े रहे हैं। नदी के किनारे शवदाह से मुक्ति मिलने की बात की गयी थी तो उससे जुड़े कई पेशे कलंकित भी हुए जैसे शवों को जलाने वाले डोम समुदाय का पेशा। उत्तर भारत में कई जातियाँ हैं जो बाँस से विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ और शिल्प बनाकर अपनी-अपनी जीविका चलाती रही हैं। बँसोर, बँसफोर, धरकार और भंगी जैसी जातियाँ बाँस का काम करती हैं। वे इससे जीवनोपयोगी वस्तुएँ बनाकर अपनी जीविका चलाती हैं। इन जातियों में से डोम श्मशानों पर शव जलाने का काम करते रहे हैं। चूँकि शव अपवित्र है इसलिए उससे जुड़ी चीजें अस्थायी और स्थायी रूप से अपवित्र हो उठती हैं और मनुष्यों के विभिन्न समुदायों में अस्पृश्यता के विभिन्न स्तरों

का निर्माण करती हैं।[67] तीर्थ स्थलों पर जहाँ एक ओर जीवन-मरण से मुक्ति मिलती है, वहीं तीर्थ स्थल एक ऐसा स्थान बन जाता है जहाँ अस्पृश्यता का पुनरुत्पादन भी होता है। गंगा नदी के किनारे शवदाह की अति प्राचीन परम्परा उत्तर भारत में महाकाव्यों के समय से विद्यमान रही है। महाभारत में पाण्डु का दाह-कर्म गंगा नदी के तट पर किया जाता हुआ दिखाया गया है।[68] वास्तव में नदी एक ऐसा स्थल है जहाँ जीवन, मृत्यु, मृत्योपरान्त जीवन सभी उपस्थित होता है और उसके साथ ही सामाजिक वास्तविकताएँ भी नदी के किनारे चली आती हैं। यह कहना ज्यादा उचित होगा कि नदी के किनारे समाज का उच्चताक्रम उसी प्रकार विद्यमान होता था, जिस प्रकार नदी से बाहर किसी मानवीय बस्ती में। जैसा कि साहित्यिक प्रमाण पुष्ट करते हैं कि नदियों के किनारों पर तीर्थ स्थलों के विकसित होने और उससे जुड़ी कर्मकाण्ड परक अर्थव्यवस्था से डोम सहित कई जातियाँ सन्नद्ध थीं और इससे उनकी अस्पृश्यता भी अलग नहीं की जा सकती थी।[69] शौच-अशौच के परम्परागत विचारों में मृत देह को भी अपवित्र माना जाता है, अत: उसे नदी से निकालने का काम भी अपवित्र हो उठता है। यह काम गोताखोरों को तात्कालिक रूप से अस्पृश्य बना देता है हालाँकि आधुनिक समय में जीवन के अन्य क्षेत्रों में निषाद अस्पृश्य नहीं समझे जाते हैं लेकिन गोताखोरी का पेशा उन्हें इस ओर ले जाने का प्रयास करता है। जब निषाद समुदाय की अन्दरूनी गतिकी और विशेषज्ञता को ध्यान से देखते हैं तो हमारे समक्ष गोताखोरी का पेशा अपनाने की एक प्रक्रिया सामने आती है जिसके मूल में आर्थिक वंचना है।

इलाहाबाद को वाराणसी से जोड़ने वाली सड़क पर गंगा नदी पर बने शास्त्री पुल से, इलाहाबाद से नैनी की तरफ या इलाहाबाद से फाफामऊ की ओर जाने वाली सड़क से और ट्रेनों से लोगों को गंगा नदी में सिक्के फेंकते देखा जा सकता है। यह दृश्य किसी भी नदी के ऊपर से गुजरने वाले पुल पर देखा जा सकता है। इन सिक्कों को नदियों के किनारे बसे गाँवों में रहने वाले बच्चे बारहों महीने खोजते

हैं। इलाहाबाद के उदाहरण से इसे और स्पष्ट तरीके से समझने में मदद मिलेगी। वर्ष 2012–13 के कुम्भ और 2018–19 के अर्ध कुम्भ के मेलों के दौरान गंगा नदी पर सोलह अस्थायी पीपे के पुल बनाये गये थे। इन पुलों पर से करोड़ों श्रद्धालु गुजरे।

तीर्थ यात्रा के दौरान समय भी श्रद्धालु गंगा में सिक्के फेंकते हैं। श्रद्धालुओं से जब हमने बात की तो उनका उत्तर था कि सिक्के को गंगा में फेंकने से सीधा पुण्य और गुप्तदान का लाभ प्राप्त होता है। वास्तव में तीर्थ स्थलों पर दान देने की परम्परा से ही श्रद्धालुओं द्वारा नदियों में सिक्के फेंकने की प्रथा जुड़ी है। लोगों का मानना है कि नदी में फेंकने पर कागज का नोट गल जाएगा, अन्न सड़ जाएगा जबकि सिक्के अनन्तकाल तक नदी के प्रवाह में पड़े रहेंगे। इस प्रकार सिक्के दान के मौद्रीकरण में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यही सिक्के निषादों की जीविका में कुछ नया जोड़ देते हैं। जनकवि नागार्जुन ने इस विषय पर एक बहुत ही खूबसूरत और संवेदनशील कविता लिखी है– 'देखना ओ गंगा मइया'। इस कविता का कथ्य इस बात के इर्द-गिर्द घूमता है कि किस प्रकार मल्लाहों के छोकरे गंगा के पानी में डुबकी मारकर अपनी छोटी-छोटी आवश्यकताएँ इन सिक्कों से पूरी करते हैं। नागार्जुन की यह कविता एक प्रकार से निषाद किशोरों के जीवन की प्योटिक एथ्नोग्राफी है : 'देखना ओ गंगा मइया/चन्द पैसे/...पुल पर से गुजर चुकी है ट्रेन/ नीचे प्रवाहमान उथली–छिछली धार में/फुर्ती से खोज रहे पैसे/मल्लाहों के नंग–धड़ंग छोकरे/... मगर अभी इनको निराश न करना/देखना ओ गंगा मइया।'[70] पुल के नीचे निषादों के जो बच्चे सिक्के खोज रहे हैं, उनको निराश न करने की प्रार्थना गंगा नदी से की गयी है। ज्ञानेन्द्रपति की कविता 'मल्लू मल्लाह' भी आधुनिक वाराणसी में मल्लाहों द्वारा सिक्के खोजने की इस प्रक्रिया का मार्मिक वर्णन करती है। सिक्के खोजते हुए निषाद जन गोताखोरी के विशेषज्ञ बन जाते हैं। यह अनैच्छिक और थोपी गयी विशेषज्ञता उन्हें तेरह-चौदह साल की उम्र में ही एक मिनट से भी ज्यादा समय तक के लिए

साँस रोकने के योग्य बना देती है। 'मल्लू मल्लाह' में ही ज्ञानेन्द्रपति पूछते हैं कि 'एक दुबली–पतली काया में इतनी लम्बी साँस रोकने की क्षमता वे कहाँ से लाते हैं? कि पैर लगा हो कोई धर्मालु सिक्का/... कहाँ से लाये नदी जित्ती लम्बी साँस सुखण्डी काया में।'[71] लम्बी साँस रोकने की यह क्षमता तो उन्हें बचपन से ही हासिल हो जाती है। यह कविता निषाद जनों की गरीबी और वंचना को नदी के अन्दर और उससे बाहर दोनों जगह व्यंजित करती है। कभी–कभी सिक्के खोजते निषाद सिक्कों को अपने मुँह में वैसे ही भर लेते हैं जैसे बन्दर अपने मुँह में भोजन को पहले भर लेते हैं और मौका मिलने पर उसे खाते हैं। निषादों के जीवन में यह अभाव और मजबूरी का चरम क्षण है, यह कोई कुशलता नहीं जिसकी प्रशंसा की जाए। सिक्के खोजने का यह पेशा उन वृद्धों और प्रौढ़ निषाद जनों की भी सहायता करता है जो किन्हीं कारणों से नाव नहीं चला सकते हैं अथवा शारीरिक रूप से कमजोर हो जाते हैं। कानपुर में सरसैया घाट पर एक बहुत ही वृद्ध को मैंने सिक्का खोजते हुए देखा है, वह भी जब दिन ढल रहा था। बस के द्वारा कानपुर से लखनऊ जाते समय यदि आप सड़क से पुल के नीचे झाँकेंगे तो पाएँगे कि पुल नीचे हमेशा कुछ बच्चे और नौजवान सदैव सिक्का खोजते रहते हैं। कुछ निषाद वहाँ स्थायी रूप से अपनी नावों के साथ देखे जा सकते हैं। यह विरोधाभास है कि पुलों ने उनका रोजगार समाप्त कर उन्हें पुल के ऊपर से फेंके जाने वाले सिक्कों की आस में लगा दिया!

भारत सहित सभी प्राचीन सभ्यताओं में यह विचार पोषित रहा है कि मृत्यु के बाद मनुष्य की आत्मा को उन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है जिसे वह अपने दैनिक जीवन में प्रयोग करता है। इसलिए पूर्ण शवाधान में मृतक की समाधियों में बहुत सी जीवनोपयोगी वस्तुएँ रख दी जाती थीं। भारतीय उपमहाद्वीप में महदहा, दमदमा और सेमेट्री एच कल्चर इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थल हैं। गान्धार क्षेत्र में पायी गयी एक पूरी की पूरी संस्कृति का अध्ययन उसके शवाधानों में पायी

गयी वस्तुओं से किया गया है। वर्तमान समय में जिन मृतकों का दाह संस्कार किया जाता है और अस्थियों को गंगा या अन्य पवित्र नदियों में विसर्जित कर दिया जाता है तो उनके परिजनों द्वारा उनकी अस्थियों के साथ कुछ कीमती धातुएँ और सिक्के भी विसर्जित कर दिये जाते हैं। भारत में एक प्रथा यह भी है कि यदि किसी सधवा स्त्री की मृत्यु हो जाती है तो उसके कुछ आवश्यक आभूषणों को नहीं उतारा जाता है जैसे नाक की नथ और पैर की अंगुलियों में पहने जाने वाले बिछुए। जब मृतक स्त्री का दाह-संस्कार कर दिया जाता है तो उसकी अस्थियों के साथ ये मूल्यवान धातुएँ भी संगम तक आ जाती हैं। संगम पर जब किसी मृतक की अस्थियों को उसके परिजनों के द्वारा प्रवाहित करने का उपक्रम हो रहा होता है तो एक और विशिष्ट घटना घट रही होती है। निषादों के बालक नावों के द्वारा नदी में घूमते रहते हैं और जस्ते या लोहे की एक बड़ी सी थाली में मृतक की अस्थियों को छानते हैं। उन्हें इस काम में कभी कुछ मिल जाता है, कभी कुछ नहीं। कभी-कभी नाव पर पण्डा या पुजारी भी बैठा होता है। वह भी श्रद्धालु को अस्थियों के साथ कुछ मूल्यवान धातुएँ या सिक्के डालने की सलाह देता रहता है, कभी-कभी यह सलाह दबावयुक्त प्रेरणा का रूप ले लेती है।

मध्यकालीन भारत के निबन्धकार वाचस्पति की 'तीर्थ चिन्तामणि' में कहा गया है कि गंगा नदी तक अस्थियाँ ले जाने वाले व्यक्ति को स्नान करना चाहिए। अस्थियों पर पंचगव्य छिड़कना चाहिए और उन पर एक सोने का टुकड़ा, मधु एवं तिल रखना चाहिए...इसके बाद उन्हें गंगा के जल में प्रवाहित कर देना चाहिए।[72] ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यवस्था तीर्थ में रहने वाले पुजारियों आदि के लिए की गयी होगी। पूर्व-मध्यकाल के बाद यह एक अनुमोदित कर्मकाण्ड हो गया जिसमें मृतक की अस्थियों के साथ सोने और बहुमूल्य धातुओं को प्रवाहित किया जाने लगा। निषादजन वही बहुमूल्य धातुएँ खोजते रहते हैं। वाचस्पति का समय 1425 से 1490 ईस्वी सन् माना जाता है।

वास्तव में तीर्थों की कर्मकाण्डीय अर्थव्यवस्था में पण्डा और नाविक एक-दूसरे के पूरक होते हैं। श्रद्धालु उन्हें अलग-अलग सामाजिक धरातल पर मानते हुए भी दान-दक्षिणा का भुगतान करता है।[73] तीर्थ न केवल श्रद्धालु को वर्तमान जीवन बल्कि अगले जन्मों के लिए बेहतर विकल्प उपलब्ध कराते हैं। वे उसे अगले जन्म में बेहतर जीवन का आश्वासन भी देते हैं।[74] यहीं पर एक बात और बतायी जानी चाहिए कि मध्यकाल में, विशेषकर मुगलों के समय राजनीतिक एकीकरण के कारण पहले की अपेक्षा तीर्थ यात्राएँ करना आसान हो गया। इस समय संचार के साधन भी बेहतर हुए। इस समय बनारस और गया जैसे तीर्थ स्थलों पर अन्तिम संस्कार के कर्मकाण्ड स्थलों का विस्तार हुआ।[75] अकबर के समय इलाहाबाद का अभूतपूर्व विस्तार हुआ और इससे गंगा नदी के किनारे स्थित प्रयाग का महत्त्व बढ़ा। हालाँकि इससे पहले प्रयाग एक बहुत ही प्रतिष्ठित तीर्थ स्थल था ही।[76]

गंगा नदी में अस्थि के भीतर बहुमूल्य धातुएँ और सिक्के खोजने वाले इन किशोरों को निषादों की सांस्कृतिक शब्दावली में चौंधियार कहते हैं। निषादों के यह बालक जब जवान होते हैं तो वे कुशल गोताखोर साबित होते हैं। गरीबी इन्हें गोताखोर बनाती है। गंगा नदी उनके लिए एक फैक्ट्री है जो रोजगार देती है। जनवरी 2020 में गंगा नदी के किनारे फ़ील्ड वर्क के दौरान दीपू निषाद ने मुझसे कहा था :

> निषाद बिरादरी के लोग दिनभर गंगा जल में हाथ-पाँव सड़ाते रहते हैं, जब कोई हड्डी दान करता है तो हम पानी में डूबकर हड्डी में पड़े पैसा-कौड़ी, सोना-चाँदी निकालते हैं। जो हमारे 'भाग' (भाग्य) में हुआ, वह गंगा माई की तरफ से मिल जाता है, नहीं तो नहीं भी मिलता है। आप ये समझिए कि गंगा नदी से बड़ी फैक्ट्री पूरे प्रयागराज में कोई नहीं है।

इसी तरह बलिया जिले में गंगा नदी के किनारे निषाद बालकों को चुम्बकों की मदद से सिक्के की खोज करते देखा जा सकता है। वर्ष 2012 में बलिया जिले में वे डेढ़ सौ रुपये से लेकर तीन सौ रुपये

तक के मूल्य के सिक्के वे खोज लेते थे।[77] जिन नावों से संगम पर अस्थि को छानने का उपक्रम किया जाता है, वह नावें अन्य नाविकों से छोटी और हल्की होती हैं। कोई भी इन नावों और चौंधियारों को दूर से ही पहचान सकता है। चौंधियार अपनी नावों में सवारियों को नहीं बैठाते हैं। ये गोताखोर सामान्य जन और प्रशासन के लिए बहुत मददगार सिद्ध होते हैं। जब कोई दुर्घटना हो जाती है तो ये गोताखोर ही होते हैं जो किसी व्यक्ति को डूबने से बचाते हैं। यदि कोई व्यक्ति डूब गया है या किन्हीं मामलों में किसी ने आत्महत्या की है तो इस प्रकार के शवों को ये गोताखोर ही निकालते हैं। गोता लगाने वाले निषादों की शिकायत रहती है कि उन्हें उचित श्रेय और पारिश्रमिक नहीं मिलता है जबकि सारा श्रेय संगम पर तैनात जल-पुलिस ले लेती है। कभी-कभी जल-पुलिस अपने दायित्व भी ठीक से निर्वहन नहीं करती है। मेले के सन्दर्भ में निषाद जनों का मानना रहता है कि यदि गोताखोर न रहें तो बहुत से तीर्थ यात्री मर जाएँगे। यदि कोई डूब रहा है तो गोताखोर लड़के पानी में घुसकर बचा लेते हैं। अगर कोई डूब गया है तो उसे कोई ऑक्सीजन सिलेण्डर लेकर भी खोज नहीं सकता लेकिन निषाद गोताखोर प्रायः उन्हें बिना सिलेण्डर के खोज लेने में सफल हो जाते हैं।[78] कभी-कभी इसके बदले में उन्हें छोटी सी राशि भी मिल जाती है। दीपू निषाद ने अन्त में गंगा नदी की तरफ इशारा करते हुए कहा कि—

> 'गंगा माई तोहरेन दिये हम सब खायी, माई की जय हो, चिन्ता न भय हो' (गंगा माँ हम सब तुम्हारा ही दिया हुआ खा रहे हैं। तुम्हारी जय हो, तुम्हारे होने से कोई चिन्ता और भय नहीं है।)

गंगा नदी के साथ निषाद समुदाय का यह अभय-भाव उन्हें एक नैतिक धरातल पर भले ही प्रतिष्ठित करता हो लेकिन उन्हें आर्थिक भय तो सताता ही है। दारागंज कछार में रहने वाले प्रमोद गोताखोर हैं और वहीं एक झोंपड़ी में रहते हैं। उन्होंने कहा—

> 'गोताखोरी कोई सरकारी नौकरी तो है नहीं कि उसी में बने

रहेंगे और हमें तनख्वाह मिलेगी। हम तो इसी झोंपड़ी में रहेंगे। मेहनत मजदूरी करते हैं, करते रहेंगे। यहाँ रहेंगे लोगों को बचा लेंगे। हम लोगों ने बहुत से लोगों को डूबने से बचाया है लेकिन हम लोगों के लिए कोई सेवा नहीं है। आज तक कोई नौकरी देने वाला नहीं। हमारा पूरा परिवार गोताखोर है। किसी को निकालते गोताखोर हैं, फोटो सभासद और पुलिस वाले खिंचाते हैं। अपना नाम और परमोशन करवाते हैं।'

36 वर्षीय शत्रुघ्न निषाद ने कहा कि 70 से 80 परिवार अपना पैसा लगाकर दिल्ली तक गये थे। वे जल-पुलिस में गोताखोर की नौकरी के लिए निषादों को प्राथमिकता देने की गुजारिश सरकार से करने गये थे लेकिन कोई सुनवाई नहीं हुई।[79] निषाद समुदाय के विभिन्न संगठन और उनके नेता इसके लिए आन्दोलित भी रहे हैं कि उनके समुदाय के युवाओं को जल-पुलिस में भर्ती किया जाए। यह माँग केवल इलाहाबाद जिले में स्थित निषादों की ही नहीं है, अयोध्या और वाराणसी के निषाद भी कई वर्षों से यह माँग कर रहे हैं।[80] कुम्भ 2013 के पहले उत्तर प्रदेश सरकार ने दैनिक पारिश्रमिक के आधार पर निषाद नौजवानों की एक सूची तैयार की और उन्हें मेला क्षेत्र में तैनात किया। इन नौजवानों ने कई लोगों की जान भी बचायी। 2013 के कुम्भ की महाशिवरात्रि को अन्तिम स्नान पड़ रहा था और इस दिन मेला क्षेत्र के सेक्टर 6 में 14 नम्बर पाण्टून पुल के पास ज्ञानेन्द्र प्रताप सिंह नाम का एक युवक अपने तीन अन्य साथियों के साथ नहाने गया था। नदी में वे एक असुरक्षित जगह पर स्नान करने लगे और नदी में पानी के गहराई की कोई थाह न होने के कारण वे चारों वहने लगे। उनमें से तीन को तो वहीं पर स्थित एक मल्लाह ने बचा लिया जबकि ज्ञानेन्द्र डूब गया। इसकी सूचना मिलने पर मैं भी गंगा के किनारे उस जगह पर गया जहाँ यह दुर्घटना घटी थी। कोई भी संवेदनशील व्यक्ति ऐसे नितान्त वैयक्तिक और दारुण अवसर पर किसी व्यक्ति का साक्षात्कार नहीं करना चाहेगा। मैंने भी वही किया और वहाँ केवल लोगों को देखता रहा। मैं देख रहा था कि गोताखोर

और जल-पुलिस के जवान कैसे काम करते हैं। जल-पुलिस का काम बहुत ही ढीला-ढाला था और वहाँ पर उपस्थित लोग उन पर कुढ़ भी रहे थे। जल-पुलिस के लोग आक्सीजन सिलेण्डर आने की प्रतीक्षा कर रहे थे जबकि निषाद समुदाय के गोताखोर बिना सिलेण्डर के एक मिनट से भी लम्बी डुबकियाँ लगा रहे थे। हालाँकि दो दिन के लगातार प्रयासों के बावजूद भी डूबे हुए व्यक्ति का शव नहीं मिल पाया। अगले सप्ताह मैं संगम गया तो महाशिवरात्रि की दुर्घटना वाले दिन गोता लगाने वालों में से एक गुदुन निषाद से बात की। गुदुन संगम के आसपास ही रहते हैं। यदि कोई व्यक्ति डूब रहा होता है या जान-बूझकर नदी में कूद पड़ा होता है तो उसे बचाने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार की घटनाएँ होने पर गुदुन से इलाहबाद जल-पुलिस के लोग सम्पर्क साधते हैं। वास्तव में गुदुन बहुत ही कुशल गोताखोर हैं और जैसा वे स्वयं और संगम के अन्य निषाद बताते हैं कि उनके पिता बूँचे पनडुब्बा इलाहाबाद के सबसे मशहूर गोताखोर थे। उन्होंने सैकड़ों लोगों की जान बिना किसी पारिश्रमिक की आशा किये बचायी थी।[81] मैंने बूँचे को नहीं देखा है क्योंकि उनकी मृत्यृ हुए दशकों बीत चुके हैं लेकिन बूँचे गोताखोर के बारे में सोचते हुए मुझे प्रेमचन्द की प्रसिद्ध कहानी 'मन्त्र' के बूढ़े भगत की याद आती है जो किसी का साँप का जहर उतारने के बाद किसी का दिया हुआ कुछ नहीं लेता है। भारतीय समाज का यह नैतिकशास्त्र उसकी वंचना ने लगातार क्षीण किया है। जीवन को बचाये रखने के लिए उसे कोई न कोई आर्थिक आधार आवश्यक होता है, अन्यथा वह नष्ट हो जाता है। बूँचे को भी एक आधार की आवश्यकता रही होगी, विशेषकर जीवन के ढलते हुए वर्षों में जब गोता लगाते समय लम्बी साँस रोक पाना मुश्किल होता है। लगभग सात वर्ष बाद, 2020 में, शत्रुघ्न निषाद ने बूँचे की कहानी एक-दूसरे सन्दर्भ में सुनाई कि एक बार वे जल-पुलिस की नौकरी माँग रहे थे। पुलिस के आला अधिकारी ने कहा कि वे उन्हें नौकरी देंगे लेकिन उन्हें नौकरी नहीं दी गयी।[82] इसके बाद भी वे

अपना काम करते रहे। यह बताता है कि निषाद समुदायों के पास जो दक्षता है उसे बेहतर सम्मान और आर्थिक सहायता देने की नज़र और संवेदनशीलता सरकारों के पास नहीं रही है।

सन्दर्भ

1. चौधरी, प्रसन्न कुमार (2015) : 204
2. नारायण, बद्री (2018) : 84–102
3. चौधरी, प्रसन्न कुमार (2015) : 205
4. कोह्न, बरनार्ड (2011), द कमाण्ड ऑफ़ लैंग्वेज़ एण्ड द लैंग्वेज़ ऑफ़ कमाण्ड, सबाल्टर्न स्टडीज, सम्पादक रणजीत गुहा, खण्ड 4, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली।
5. डर्क्स, निकोलस (2003) : 81
6. कल्पागम, यू (2014) : 17
7. निगम, संजय (1990) : 27, 2, 131–64; और यह भी देखें निगम, संजय (1990) 27, 3, 257–87
8. देवी, जी.एन. (2017) : 62– 71
9. https://journals.sagepub.com/doi/abs/10.1177/001946469002700201
10. क्रिमिनल ट्राइब्स इनक्वायरी कमेटी की रिपोर्ट (1951), गवर्नमेण्ट इण्डिया प्रेस एक्ट, नयी दिल्ली : 28
11. गुहा, सुमित (1999)
12. सरकार सुमित (2014) : 91–92
13. देवी, जी.एन. (2017)
14. राधाकृष्ण, मीना (2001)
15. फ़ाइल नम्बर 408, बॉक्स नम्बर 25, होम पुलिस डिपार्टमेण्ट; फ़ाइल नम्बर 409, बॉक्स नम्बर 25, होम पुलिस डिपार्टमेण्ट, उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार, लखनऊ; सॉल्वेशन आर्मी की भूमिका पर

राधाकृष्ण, मीना (2001) : 71-89 भी देखें।

16. फ़ाइल नम्बर 407, बॉक्स नम्बर 25, होम पुलिस डिपार्टमेण्ट, वर्ष 1910, उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार, लखनऊ।
17. श्रीवास्तव, शालिग्राम (2016) : 207
18. फ़ाइल नम्बर 407, बॉक्स नम्बर 25, वर्ष 1910, होम पुलिस डिपार्टमेण्ट, उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार।
19. फ़ाइल नम्बर 407, वही
20. फ़ाइल नम्बर 294, बॉक्स नम्बर 28, वर्ष 1913, होम पुलिस डिपार्टमेण्ट, उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार।
21. वही
22. राधाकृष्ण, मीना (2001) : 45
23. फ़ाइल नम्बर 6, बण्डल नम्बर 129, वर्ष 1939, डिपार्टमेण्ट मिसलेनियस, उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार।
24. वही
25. फ़ाइल नम्बर 14, बण्डल नम्बर 129, वर्ष 1939, डिपार्टमेण्ट मिसलेनियस, उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार।
26. सिंह, रमाशंकर (2021)
27. फिशर, एफ.एच. और जे.पी. हीवेट (1884) : 90-91
28. फिशर, एफ.एच. और जे.पी. हीवेट (1884) : 15-18
29. वही
30. तिवारी-जस्सल, स्मिता (2001)
31. फ़ाइल नम्बर 14, बण्डल नम्बर 129, वर्ष 1939, डिपार्टमेण्ट मिसलेनियस, उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार।
32. फ़ाइल नम्बर 14, वही
33. फ़ाइल नम्बर 14, वही
34. फ़ाइल नम्बर 6, बण्डल नम्बर 129, वर्ष 1889, डिपार्टमेण्ट मिसलेनियस, उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार।
35. देवी, जी.एन. (2002)

36. भारतीय संविधान सभा के वाद-विवाद की सरकारी रिपोर्ट (2015), पुस्तक संख्या एक, लोकसभा सचिवालय, नयी दिल्ली : 15
37. भारतीय संविधान सभा के वाद-विवाद की सरकारी रिपोर्ट (2015), पुस्तक संख्या आठ : 3885
38. एशियावत्ती, एंथोनी (2015) : 9
39. भट्टाचार्य, नीलाद्री (2018) : 385
40. मैकलियन, कामा (2008)
41. नक्शा, बॉक्स नम्बर 401, फ़ाइल नम्बर 129, क्षेत्रीय अभिलेखागार, प्रयागराज।
42. फ़ाइल नम्बर 222, बॉक्स नम्बर 276, क्षेत्रीय अभिलेखागार, प्रयागराज।
43. फ़ाइल नम्बर 222, वही।
44. फ़ाइल नम्बर 129, बॉक्स नम्बर 401, क्षेत्रीय अभिलेखागार, वाराणसी।
45. फ़ाइल नम्बर 174, बॉक्स नम्बर 57, क्षेत्रीय अभिलेखागार, वाराणसी।
46. सैकिया, अरूपज्योति (2020) : 169-171
47. फ़ाइल नम्बर 174, बॉक्स नम्बर 57, क्षेत्रीय अभिलेखागार, वाराणसी।
48. फ़ाइल नम्बर 48, बॉक्स नम्बर 133, क्षेत्रीय अभिलेखागार, वाराणसी।
49. फ़ाइल नम्बर 447, बॉक्स नम्बर 549, जनरल एडमिनिस्ट्रेशन डिपार्टमेण्ट, वर्ष 1937, उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार, लखनऊ।
50. फ़ाइल नम्बर 188, बॉक्स नम्बर 200, वर्ष 1909, जनरल एडमिनिस्ट्रेशन डिपार्टमेण्ट, वर्ष 1937, उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार, लखनऊ।
51. उत्तर प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर इलाहाबाद (1968) : 152-55
52. 'समाज, संस्कृति एवं जीविका की निर्मिति : उत्तर भारत में नदियों

और निषादों का सहजीवन' विषय पर भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में दिनांक 22 जुलाई से 24 जुलाई 2019 के बीच हुई राष्ट्रीय संगोष्ठी में श्री गोविन्द निषाद द्वारा प्रस्तुत किया गया परचा 'नदी, निषाद और उनका जीवन : सरयू नदी और उसके किनारे बसे एक गाँव का सन्दर्भ'।

53. कुम्भ मेले पर हुए अध्ययनों के लिए देखिए : http://kumbh.gov.in/en/research-on-kumbh दिनांक 20 फरवरी 2020 को देखा गया।
54. सिंह, रघुबीर (1992) : 53
55. सिंह, रघुबीर (1992) : फोटोग्राफ संख्या 27
56. सुब्रमनियन, अजंता (2013) : 156–58
57. मिश्र, अनुपम (2016) : 72
58. ऑस्ट्रम, एलिनर (1990) : 173–75
59. इलाहाबाद डिस्ट्रिक्ट गजेटियर (1968) : 155
60. http://kumbh.gov.in/en/bathing-dates दिनांक 20 फरवरी 2020 को देखा गया।
61. अमर उजाला 22 फरवरी 2012 इलाहाबाद संस्करण।
62. मोतीचन्द्र (1964) : 6
63. अग्रवाल, वासुदेव शरण (1998) : 40
64. अगस्त 2020 में किया गया फ़ील्ड वर्क।
65. बंद्योपाध्याय, माणिक (2012) : 4
66. तेलतुम्बडे, आनन्द (2020) : 95
67. काणे, पी.वी. (1994), तृतीय भाग, 1126–29
68. काणे, पी.वी. (1994), तृतीय भाग, 1132
69. मृत्यु और उससे जुड़ी कर्मकाण्डीय अर्थव्यवस्था और उसमें डोम समुदाय की उपस्थिति के बारे में देखें पैरी, जोनाथन (1994)
70. शोभाकान्त (2003) : 256–57
71. ज्ञानेन्द्रपति (2019) : 78

72. काणे, पी.वी. (1992) द्वितीय भाग :1325
73. तीर्थस्थलों पर, विशेषकर वाराणसी और इलाहाबाद में यह एक सामान्य दृश्य है जहाँ पण्डों और निषादों में श्रेष्ठता के लिए हल्का सा संघर्ष विद्यमान रहता है लेकिन यह इतना भी नहीं होता है कि उनका आपसी लेन-देन बन्द हो जाए।
74. पैरी, जोनाथन (1994)
75. बेली, सी.ए. (1981), फ्रॉम रिचुअल टू इकोनोमी : डेथ एण्ड सोसाइटी इन हिन्दू नार्थ इण्डिया सिंस 1600, पैरी, जोनाथन (1994) में उद्धृत : 38
76. एक तीर्थ स्थल के रूप में प्रयाग के विकास के लिए काणे, पी.वी. (1994), तृतीय भाग, 1327-38 देखिए। श्रीवास्तव, शालिग्राम (2008) भी देखें। शालिग्राम श्रीवास्तव की किताब पहली बार 1937 में प्रकाशित हुई थी।
77. निषाद ज्योति मासिक पत्रिका (2012), अप्रैल अंक : 25
78. 20 जनवरी 2020 को दीपू निषाद से बातचीत, प्रयागराज।
79. 20 जनवरी 2020 को शत्रुघ्न निषाद से बातचीत, प्रयागराज।
80. डोरोन, अस्सा (2013) : 62-64
81. फील्ड सर्वेक्षण : 10 फरवरी 2013
82. 24 जनवरी 2020 को दीपू निषाद से बातचीत, प्रयागराज।

पर्यावरण और जीविका का सवाल : नदी-तट पर जीवन और राजनीति की निर्मिति

'यह नदी हमारी है। ऐसा भारत के संविधान में बताया गया है।' एक वृद्ध निषाद ने यह बात 2015 में यमुना नदी के तट पर बड़े ही आवेगपूर्ण स्वर में मुझसे कही थी। उस दिन इलाहाबाद जिले में निषादों का एक समूह यमुना नदी में जेसीबी मशीनों द्वारा बालू निकालने का विरोध कर रहा था। यह समूह उत्तर प्रदेश सरकार से माँग कर रहा था कि इस प्रकार की खुदाई तत्काल बन्द कर दी जानी चाहिए। इससे नदी का पारिस्थितिकीय स्वास्थ्य खराब होता है, उसके किनारे टूटकर नदी में समाते चले जाते हैं और मछलियाँ अण्डे नहीं दे पातीं, कछुओं का प्राकृतिक आवास नष्ट हो जाता है[1] और सबसे बढ़कर निषादों की जीविका का साधन नष्ट हो जाता है। अपने कमरे पर पहुँचकर मैंने भारत का संविधान फिर से पढ़ा लेकिन उस बात का ज़िक्र संविधान में कहीं न था। इसके बाद मैं यह कहकर छुट्टी पा सकता था कि उस निरक्षर वृद्ध यमुनातीरी निषाद को भारत के संविधान का 'क ख ग' नहीं पता है और वह आधारहीन बातें कर रहा था लेकिन ऐसी बात नहीं थी। भारत के संविधान को वह निषाद अपनी समझ, आवश्यकता और संकट के अनुसार पुनर्रचित करने का प्रयास कर रहा था।[2] वास्तव में भारत के सुभेद्य तबके, दलित, पर्वतों पर रहने वाले, घुमन्तू एवं पशुचारी समुदाय, आदिवासी और स्त्रियाँ

अपने दैनिक जीवन में संविधान और कानूनों को इसी प्रकार रचते रहते हैं। इन समूहों तक संविधान और कानून को पढ़े-लिखे लोग मीडिया के विभिन्न प्रकार और आन्दोलन धीरे-धीरे संचारित करते रहते हैं। वे संविधान और कानूनों को उसके तकनीकी अनुच्छेदों और व्याख्या से बाहर निकलकर उसे एक सामाजिक अर्थ देते हुए विभिन्न जन आन्दोलनों से जोड़ देते हैं।[3] जैसा हम इस अध्याय में आगे देखेंगे कि 1980 के दशक में हुए 'गंगा मुक्ति आन्दोलन' के दौरान बिहार में भागलपुर के निषाद समुदाय ने वही माँगें सरकार के सामने रखी थीं जो सन् 2000 और 2010 के दशक में इलाहाबाद और उसके आसपास के जिलों में निषादों ने रखी हैं।

यह अब एक सर्वमान्य तथ्य है कि दुनिया के लगभग सभी हिस्सों में विभिन्न समुदाय अपने अस्तित्व को बचाये रखने के संघर्षों के विस्तार को प्राकृतिक संसाधनों को बचाने के संघर्षों से जोड़ देते हैं। आस्ट्रेलिया, संयुक्त राज्य अमेरिका और अफ्रीका के विभिन्न देशों में हुए पर्यावरणीय संघर्ष और आन्दोलन इसकी गवाही देते हैं। आस्ट्रेलिया में ग्रेट बैरियर रीफ से सम्बन्धित मूल निवासी समुदायों के दावों, संस्कृति और मूल्यों को न केवल मान्यता दी गयी बल्कि उन्हें संसाधनों के प्रबन्धन में शामिल किया गया।[4] इसके लिए इन समुदायों को अपनी हक़दारी के लिए दावा पेश करते समय वही तर्क देते देखा गया जो दुनिया के अन्य हिस्सों में ऐसे समुदाय करते रहे हैं : समुदाय के जीवन और उनके प्राकृतिक पर्यावास की अविभाज्यता। इस विषय पर उपलब्ध साहित्य बताता है कि भारत के पर्यावरणीय आन्दोलनों के परिणाम सभी जगह एक जैसे नहीं मिले हैं। वे कहीं सफल हुए तो कहीं आधे रास्ते में ही दम तोड़ते नज़र आए, कुछ आन्दोलनों ने आंशिक रूप से राज्य की नीतियों में थोड़ा-बहुत हस्तक्षेप करने में सफलता भी प्राप्त की। इन मामलों में समुदाय की संसाधनों पर परम्परागत माँग एक 'विधिक माँग' में परिवर्तित हो जाती है और समुदायों को कानूनों का संरक्षण प्राप्त हो जाता है। मध्य भारत में वन अधिकार

कानून और उत्तराखण्ड में चिपको आन्दोलन की सफलता इसका प्रमाण है। कमल नयन चौबे ने दिखाया है कि छतीसगढ़ में 'जंगल में वनवासियों के परम्परागत अधिकार' किस प्रकार भारत की संसद द्वारा 'वन अधिकार कानून' में तब्दील हुए।[5] इसके लिए विभिन्न आदिवासी समुदायों ने अपने दावे की वैधता को स्थापित करने के लिए आन्दोलन किये, प्रमाण जुटाये और संगठन स्थापित किये। इसके बाद उन्हें एक राजनीतिक गोलबन्दी एवं दृश्यता हासिल हुई जिसके चलते भारत की संसद को आदिवासियों के लिए कानून बनाने पड़े। यह कानून पहले के कानूनों से इसलिए भिन्न था कि इसमें समुदायों की स्पष्ट भागीदारी थी। इसी प्रकार चिपको आन्दोलन से जुड़े विभिन्न समुदायों, स्त्रियों और पुरुषों, संगठनों ने वनों पर दावेदारी स्थापित करने के लिए अपना पक्ष रखा। चिपको आन्दोलन की व्यापकता और प्रसार ने उसके पारिस्थितिकीय और आर्थिक महत्त्व को न केवल रेखांकित किया बल्कि दिखाया कि संसाधनों पर समुदाय का पहला हक़ मान लिया जाना क्यों जरूरी है। इस आन्दोलन ने यह भी दिखाया कि संसाधन की रक्षा तभी हो सकेगी जब समुदाय की रक्षा होगी।[6] समुदाय और संसाधन को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता है। नदियों के किनारे चलने वाले विभिन्न प्रकार के आन्दोलनों का पहला नैतिक जोर समुदाय और संसाधन की अविभाज्यता ही होती है। भागलपुर के 'गंगा मुक्ति आन्दोलन' ने इसे स्पष्ट शब्दों में हमारे सामने रखा है।

> केवल मछली से पेट भर जाता है क्या? अब तो वह भी बारहों महीने ठीक से नहीं मिलती। हमें दवा-दारू, पढ़ाई-लिखाई की भी जरूरत पड़ती है। हमारे यहाँ भी बच्चे पैदा होते हैं, उनका पालन-पोषण करना पड़ता है। हमारे यहाँ भी विवाह होता है जिसमें पैसा लगता है। हमारे यहाँ भी लोग बीमार पड़ते हैं और मर जाते हैं। उनका अन्तिम संस्कार करना पड़ता है।[7]

गंगा नदी के किनारे बसे नीवी कला गाँव की निषाद समुदाय की महिला आशा देवी (नाम परिवर्तित) ने यह बातें बड़ी तल्खी से

कहीं थी। उनके इस बयान को कैसे सुना जाए? क्या यह केवल सपाटबयानी भर है या इससे आगे किसी समुदाय का ऐसा आख्यान है जिसमें बेदखली और दारिद्र्य का दर्द छुपा है और भविष्य के प्रति दुश्चिन्ता भी। वास्तव में जब अभिलेख समाप्त हो जाते हैं या उन्हें सृजित ही नहीं किया गया होता है, वहाँ पर मनुष्य या समुदायों की भौतिक उपस्थिति आवश्यक हो जाती है। ऐसे में किसी इतिहासकार का काम किसी अभिलेख को पढ़ने से ज्यादा लोगों के सुनने पर आधारित होता चला जाता है। जैसा रणजीत गुहा कहते हैं कि यह सुनना इतिहास की साधारण आवाज़ों को सुनना और उन्हें दर्ज़ करना है।[8] मार्टिन हिडेगर ने तो यहाँ तक कहा है कि किसी विमर्श रचना के लिए सुनना एक संघट्य है।[9] गुहा ने दो पीढ़ियों की स्त्रियों के बीच कहने और सुनने की परम्परा और उसमें सुरक्षित इतिहास को दर्ज़ करने की कोशिशों का ज़िक्र किया है।

किसी इतिहासकार के लिए फ़ील्ड में 'इतिहास को सुनना' ऐसा ही अनुभव बन जाता है जब कोई समुदाय या व्यक्ति किसी दिये गये कालखण्ड में अपने निकटवर्ती अतीत को याद करता है। अपने अतीत को याद करने का उसका यह तरीका तात्कालिक भी हो सकता है और ऐतिहासिक स्मृतियों पर भी उसकी नींव टिकी हो सकती है। ऐसा उस समय होता है जब कोई समुदाय मुख्यधारा के समाज या राज्य द्वारा प्रायोजित किसी संकट का सामना कर रहा होता है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही जब उत्तर प्रदेश के निषादों का जीवन गहन संकट में पड़ने लगा तो उन्होंने अपने इतिहास को एक बार फिर से पढ़ने, सुनने और याद करने की विधियाँ सृजित करनी आरम्भ कीं। इसके लिए उन्होंने अपने गौरव और बहिष्करण दोनों के वृत्तान्तों को चुना। इसके बाद उन्होंने देश के कानून को अपने हिसाब से पुनर्सृजित करने का प्रयास किया है। उपर्युक्त दोनों मामलों में यह बात देखी जा सकती है जहाँ पर एक जगह भारत के संविधान की बात की जा रही है तो दूसरी जगह एक महिला अपने वर्तमान और भविष्य को लेकर बहुत

ही व्यग्र है। आशा देवी की बातों में तल्खी मानवीय जीवन की उन दुश्वारियों से उपजी है जिनके बीच भारत के परिधीय तबकों के लोग रहते आए हैं अथवा सामाजिक एवं भौतिक संरचनाओं द्वारा छोड़ दिये गये हैं। आशा देवी का कहना था कि शेष भारतवासियों की तरह उन्हें भी सामान्य मानवीय जरूरतें परेशान करती हैं और जीवन चलाने के लिए उन्हें आय के नये स्रोतों की जरूरत पड़ती है। इस स्रोत की तलाश में लोग शहरों की तरफ पलायन करते हैं। इस अध्ययन की शुरुआत में ही आपका ध्यान इस ओर दिलाया गया है कि अनियन्त्रित विकास ने प्राकृतिक संसाधनों को गरीबों के हाथ से छीनकर दबंग जातियों, शक्तिशाली लोगों और अपराधियों के हाथ में दे दिया है। इसने एक खास किस्म के पारिस्थितिकीय शरणार्थी समुदाय या इकोलॉजिकल रिफ्यूजी को जन्म दिया है। इसने परिधीय तबकों के बीच अति-दारिद्र्य एवं वंचना को भी जन्म दिया है। इससे समुदायों के ही अन्दर और विभिन्न समुदायों के बीच बहिष्करण का उद्‌भव हुआ है।[10] वास्तव में दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया में आधे अरब लोगों का जीवन दाँव पर लगा हुआ है। पर्यावरणीय संकटों ने जिन पारिस्थितिकीय शरणार्थियों एक का समूह तैयार करना आरम्भ किया है, उसमें सबसे बड़ी संख्या महिलाओं की है।[11] यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि गंगा नदी के किनारे जो परिवर्तन घटित हो रहे हैं, उनसे महिलाओं का जीवन गहन तरीके से जुड़ा हुआ है और घूरपुर से लेकर भागलपुर तक वे गंगा को बचाने की लड़ाइयों में आगे-आगे चल रही हैं।

फिलहाल, इस गरीबी और बहिष्करण के बीच जो निषाद जन शहरों की तरफ नहीं जा पाते अथवा अपनी घरेलू बन्दिशों के चलते कहीं अन्यत्र अवसर नहीं खोज सकते, उन्हें अपने मूल स्थान पर ही आय को बढ़ाने के साधन खोजने होते हैं। नदी की बालू उनके लिए आय का अतिरिक्त साधन बन जाती है। इसके लिए उन्हें किसी अतिरिक्त दक्षता की भी जरूरत नहीं पड़ती है क्योंकि पिछली शताब्दी के शुरुआती दशकों से वे बालू खनन से जुड़े रहे हैं। लगभग एक

शताब्दी के ज्ञात इतिहास में निषाद नदियों से बालू निकालने का काम कर रहे हैं और अब यह उनका जातीय पेशा बन चुका है। नदी के पेट से बालू निकालने के लिए शारीरिक श्रम और कुछ सस्ते औजारों की आवश्यकता पड़ती है जो उन्हें आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं। भारत में पिछली एक शताब्दी से भवन निर्माण की एक प्रमुख सामग्री के रूप में बालू को प्रयुक्त किया जाता रहा है। 1990 के दशक के बाद चौड़े राजमार्गों के निर्माण ने बालू की खपत बहुत तेज कर दी है। अब बहुमंजिला भवनों में बालू का प्रयोग पहले की अपेक्षा कम होता है लेकिन उनका आधार बनाने के लिए बालू का प्रयोग बढ़ा है। इस प्रकार बालू का एक बड़ा बाज़ार उभरा है जिससे मुनाफ़ा कमाया जा सकता है। और इसी के साथ इस बाज़ार और संसाधन पर कब्ज़ा करने की मुहिम तेज हुई है। उत्तर प्रदेश में यमुना नदी, बुन्देलखण्ड से सभी नदियों सहित कुछ छोटी नदियों में अच्छी किस्म की बालू मिलती है। गंगा में भी बालू निकलती है लेकिन वह यमुना के गर्भ में पायी जाने वाली बालू से थोड़ी कम उत्कृष्ट मानी जाती है। यमुना की बालू भवन एवं सड़क निर्माण के लिए अच्छी मानी जाती है। इस अध्याय में यमुना नदी की तलहटी से निकाली जाने वाली बालू, उसके इर्द-गिर्द विकसित हुए अधिकार आन्दोलनों की पड़ताल करते हुए यह रेखांकित करने का प्रयास किया गया है कि बालू का मुद्दा किस प्रकार से निषाद अस्मिता के साथ जुड़ा है।

भारतीय उपमहाद्वीप में प्रकृति को लेकर जो भाव-बोध है, उसमें धर्म, आदिम विश्वास और लोगों की दैनन्दिन आवश्यकताओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इसी के साथ पर्यावरण से जुड़े जाति के सवाल को उपेक्षित नहीं किया जा सकता है। प्रकृति और जाति दोनों ही ऐतिहासिक और सामाजिक निर्मिति हैं। जाति, दलित और पर्यावरण के बीच के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों की खोज करते हुए हम जाति और संस्कृति के पहिये पर प्रकृति की पुनर्खोज कर सकते हैं। ...जाति का ऐतिहासिक तौर पर प्रकृति के जरिये प्रस्तुतीकरण हुआ है। जाति के

प्रति आँख मूँदने की बजाय प्रकृति में जाति की उपस्थिति और प्रभाव को लेकर हमारी सजगता से पर्यावरण संघर्षों और चिन्ताओं के लिए एक नयी राजनीतिक जमीन मिलेगी।[12]

जीविका का सवाल इसे तात्कालिक रूप से तीव्र कर देता है। बिहार में विकसित हुए गंगा मुक्ति आन्दोलन के उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। 1982 में कहलगाँव, जिला भागलपुर में गंगा मुक्ति आन्दोलन की शुरुआत हुई। गंगा के किनारे रहने वाले लोगों, विशेषकर निषादों के प्रतिरोध के कारण सरकार को 1990 आते-आते गंगा में चल रही जमींदारी और पूरे बिहार के 500 किलोमीटर गंगा क्षेत्र तथा बिहार की सभी नदियों में मछुआरों के लिए मछली पकड़ना कर मुक्त करना पड़ा।[13] भागलपुर जिले में गंगा नदी का एक लम्बा हिस्सा जमींदारों के अधीन था। इस हिस्से में नाव चलाने और मछली पकड़ने का सारा अधिकार केवल जमींदारों और उनके कारिन्दों के हाथों में था। 1980 के दशक में जमींदारी उन्मूलन के बाद भी यह प्रथा जारी रही। सुल्तानगंज से पीरपैती तक के लगभग अस्सी किलोमीटर लम्बी गंगा नदी की धारा पर मुगलकाल से एक जमींदारी की शुरुआत हुई। बीसवीं शताब्दी के पहले सत्तर वर्षों में इसको लेकर गंगा के किनारे बसे लोगों में एक उद्विग्नता भी देखी गयी और मामला भारत के उच्चतम न्यायालय तक पहुँचा।[14]

एक रणनीति के रूप में इसमें धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतीकों का इस्तेमाल किया जाता रहा है।[15] प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर आदिम समुदायों की धार्मिक मान्यताएँ और यहाँ तक कि उनका 'ज्ञान' उनके परिवेश से ही उपजा होता है। एक सघन पारिस्थितिकीय समझ उनके जीवन बोध और नैतिक दुनिया की रचना करती है।[16] झारखण्ड में मुण्डा और संथाल समुदाय का जीवन बोध दामोदर नदी सृजित करती रही है। वे इससे गहन तरीके से जुड़े थे और जंगल एवं नदी के साथ तारतम्यपूर्ण जीवन बिता रहे थे। इस इलाके में कोयला खनन ने उनके जीवन को संकट में डाल दिया। इस जीवन शैलीगत विघटन,

संसाधनों से बेदखली और प्रदूषण के खिलाफ़ स्थानीय स्तर पर नये नेता उभरे। उन्होंने सरकार का विरोध किया। यह सभी समुदाय इस तथ्य की ओर ध्यान दिला रहे थे कि 'बाहरी हस्तक्षेप' ने उन स्थानों की पवित्रता भंग कर दी है जिससे उनका जीवन, संस्कृति और धर्म जुड़ा है। वास्तव में जो पवित्र है, वह राजनीतिक भी है।[17] पवित्रता को एक पिछड़ा मूल्य मानने का एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि आदिम समुदायों के प्रकृति के साथ जुड़ाव को समझने में न केवल कठिनाई पेश हुई है बल्कि समाज विज्ञानी उस दावे को समझने में फिसड्डी साबित हुए हैं जो इन समुदायों ने पिछली एक सदी से पृथ्वी के विभिन्न हिस्सों में प्रस्तुत किया है। जलवायु संकट के गहराने और उसे मानवीय जीवन के लिए खतरा मानने के बाद आखिरकार लोग इस दिशा में सोचने के लिए बाध्य हुए हैं।

संसाधन और समुदाय

कोई वस्तु संसाधन तब तक नहीं बनती जब तक कि उसका कोई मूल्य निर्धारित न किया गया हो और उसे जीवन के कठिन समय में काम में न लाया जा सके। शब्दकोशीय अर्थ में संसाधन वह चीज है जिसे कोई देश, संगठन या व्यक्ति अपनी समृद्धि बढ़ाने के लिए प्रयुक्त करता है। इस अर्थ में बालू एक क्षुद्र प्राकृतिक पदार्थ तब तक रहा जब तक उसका वित्तीय मूल्य स्थापित नहीं हो गया और उसे बाज़ार में खरीदा-बेचा नहीं जाने लगा। औद्योगिक युग के आरम्भ और तकनीक ने नयी-नयी वस्तुओं को संसाधन में बदला है। कोई उपेक्षित सा पहाड़ या समुद्र तट किसी मूल्यवान धातु की खोज से अचानक महत्त्वपूर्ण हो उठता है। इसके बाद उस पहाड़ या समुद्र तट पर दावा जताने के राज्य और समुदाय के मध्य संघर्ष आरम्भ हो जाता है। उड़ीसा में नियमगिरि की पहाड़ियों पर आदिवासी समुदायों को तब तक कोई दावा नहीं जताना पड़ा जब तक कि उन्हें बेदखल करने के

लिए राज्य-नियन्त्रित परियोजनाओं की शुरुआत नहीं हुई थी। अपने दावे की मज़बूती के लिए नियमगिरि के आदिवासी जनों ने स्मृति, इतिहास और धर्म को आधार बनाया। ऐसा पूरी दुनिया में होता रहा है। हालाँकि, यह सर्वविदित है कि राज्य के पास कानून बनाने और उसे लागू करने की अपरिमित शक्ति रहती है इसलिए बाज़ी उसके हाथ में रहती है लेकिन यह हमेशा आसान नहीं रहता है और स्थानीय समुदाय भी कभी-कभी इस स्थिति में रहते हैं कि वे राज्य से इन संसाधनों पर अपने दावे के लिए राजनीतिक मोलभाव कर सकें। समकालीन भारत में जंगलों, पर्वतों, समुद्र तटों और खदानों पर इस तरह के मोलभाव समुदायों ने राज्य के साथ किये हैं। 1970 के दशक से ही पूरे भारत के राष्ट्रीय दायरे में राज्य के खिलाफ़ समुदायों के द्वारा संघर्ष किये गये हैं, विशेषकर उन जगहों पर जहाँ पर औपनिवेशिक नीतियों को आज़ाद भारत की सरकारों द्वारा जारी रखा गया। विभिन्न समुदायों ने राज्य-निर्देशित परियोजनाओं की वैधता पर सवाल उठाये हैं।[18]

'अर्थशास्त्र' के समय से ही राज्य को संसाधनों को परिभाषित करते, उस पर कर लगाते और वसूलते हुए देखा जा सकता है।[19] कौटिल्य कृत 'अर्थशास्त्र' इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण है कि राज्य अपने निश्चित भूभाग में किसी वस्तु को अपरिभाषित नहीं रहने देता है। आरम्भिक भारत में राज्य ने प्रत्येक सम्भावित संसाधन पर अपना कब्ज़ा जमाया, यहाँ तक कि जानवर भी उससे अछूते नहीं रह पाये। गंगा घाटी में राज्य के निर्माण, प्रसार और उसी रक्षा के लिए स्थायी सेना की आवश्यकता थी। इसलिए हाथियों पर राज्य द्वारा एकाधिकार स्थापित किये जाने की परिघटना को इस सन्दर्भ में समझा जा सकता है।[20] वास्तव में राज्य वस्तुओं और स्थानों की परिभाषा और श्रेणी सुनिश्चित कर उसे अपने नियन्त्रण में ले आता है दूसरी तरफ समुदाय वस्तुओं और स्थानों की परिभाषा अपने अनुसार करना चाहते हैं और उस पर दावा जताते हैं। इस प्रकार राज्य और समुदाय में संघर्ष स्वाभाविक है।

आधुनिक समय में सीमेण्ट और भवन निर्माण की गतिविधियों के चरम पर पहुँचने के कारण बालू सामान्य रेत से संसाधन बन गया है। इस पर राज्य एवं समुदाय दोनों अपना दावा प्रस्तुत करते रहे हैं। नदी के गर्भ से या नदी के किनारे से बालू खनन कौन करेगा, यह निर्धारित करने का अनन्य अधिकार राज्य के पास है। वही बालू खनन का अधिकार किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को दे सकता है। बीच का रास्ता निकालते हुए उत्तर प्रदेश सरकार ने यू.पी. माइनर एण्ड मिनरल (कंसेशंस रूल) 1963 के नियम 9(2) के द्वारा बालू निकालने के लिए वरीयता अधिकार (प्रिफरेंशियल राइट) उन जातियों को दिया है जो बालू निकालने के काम में सदियों से संलग्न रही हैं जैसे मल्लाह, केवट, बिन्द, निषाद, माँझी, बाथम, धीवर, तीमर, चाईं, सिरहिया, तुरहा, रैकवार, कैवर्त, खुल्वत, तियर, गौडिया, गोड़िया और काश्यप। इसी के साथ यह भी उल्लेखनीय है कि जिस व्यक्ति को बालू निकालने की अनुमति दी जाती थी, उसकी वित्तीय स्थिति को देखा जाता था कि वह इस कार्य को करने के लिए आवश्यक सुविधाएँ जुटा पाएगा या नहीं। यही वह बिन्दु है जहाँ माफिया प्रकृति के लोग इस पेशे में उतर जाते हैं। ठेका किसी निषाद के नाम होता रहा है, पैसा किसी बाहुबली का लगता है और जिस व्यक्ति के नाम का ठेका आवंटित होता है, वह उसी पट्टे पर दिहाड़ी मजदूर के रूप में बालू निकाल रहा होता है। इसमें अवैध और बेनामी लोग शामिल होते गये हैं। इसने एक समानान्तर बालू अर्थव्यवस्था विकसित कर ली और वे लगातार इस पर काबिज़ होते गये हैं।

जेम्स क्रैबट्री ने 1990 के बाद के भारत में धन कुबेरों के बढ़ते प्रभाव की पड़ताल की है। उत्तर भारत में धन कुबेरों के बढ़ने में बालू के अवैध ठेकों और खुदाई का भी हाथ रहा है। एक मशहूर व्यवसायी ने सबसे पहले बालू के ठेके में अपनी किस्मत आजमाई, उससे कमाये हुए पैसे से रियल एस्टेट और बाद में शराब व्यवसाय पर कब्ज़ा जमाया।[21] आज हालत यह हैं कि उत्तर प्रदेश में दबंग समूह बालू को

आगे बढ़ने का साधन मानते हैं और उसपर कब्ज़ा ज़माने के लिए गैंगवार तक पर उतर आते हैं। हालात यहाँ तक संगीन हुए कि 12 जुलाई 2006 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय की लखनऊ खण्डपीठ ने अपने एक निर्णय में 'माफिया' के बालू खनन पर कब्ज़े को लेकर चिन्ता जाहिर की थी। इस मामले में बालू के खनन से जुड़े पट्टे पर बेनामी रूप से कुछ दबंगों ने अपने नाम के ठेके आवंटित करा रखे थे।[22] उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में 'माफिया' अँग्रेजी के बड़े अक्षरों में लिखा और कहा कि राज्य सरकार माफिया को रोकने के उपाय की तो बात करती है लेकिन यह परिभाषित नहीं करती है कि माफिया है कौन? इस अपरिभाषित माफिया ने तो बिहार में एक राजनीतिक अर्थव्यवस्था ही विकसित कर ली है जो इस राज्य की चुनावी राजनीति से लेकर रोजमर्रा के स्थानीय संघर्षों को प्रभावित करती है।[23] उत्तर प्रदेश से सम्बन्धित बालू माफिया पर इस तरह के किसी अध्ययन का अभाव है जो यह बता सके कि अनौपचारिक अर्थव्यवस्था और राजनीति को यह कैसे प्रभावित करता है लेकिन विभिन्न क्षेत्रीय अख़बारों में इस आशय की ख़बरों की प्रचुरता है जो बताती हैं कि बालू से उपजी एक समानान्तर अर्थव्यवस्था ने किस प्रकार राजनीति के अपराधीकरण को जन्म दिया है।[24] इसका सबसे ज्यादा नुकसान कमजोर समूहों को उठाना पड़ता है। दामोदर नदी के किनारे कोयले के खनन से सम्बद्ध अपराध और राजनीति ने वहाँ के सुभेद्य और आदिम समुदायों का जीवन संकट में डाल दिया है। इसने एक विशिष्ट पूँजीवाद को जन्म दिया है जो किसी उद्योग या फैक्ट्री से नहीं उपजा है बल्कि प्राकृतिक संसाधनों पर कब्ज़े, नियमों की मनमानी व्याख्या या उसे धनवानों के पक्ष में झुका दिये जाने से पैदा हुआ है। अल्पा शाह इस पूँजीवाद को 'गैंगस्टर कैपिटलिज़्म' कहती हैं।[25]

बालू का धरातल : संसाधन, दावा और राजनीति

इलाहाबाद जिले में यमुना नदी किनारे बसे गाँवों में पिछले एक दशक के क्षेत्र सर्वेक्षण में मैंने देखा है कि बालू के खनन का मामला लगातार पेचीदा होता गया है। राज्य, समुदाय और इलाके के प्रभुतासम्पन्न समूहों में इस संसाधन पर दावा पेश करने की जद्दोजहद लगातार चलती रही है। 1990 के दशक तक बालू खनन का काम गहन मानवीय श्रम का काम हुआ करता था। इसमें नदी के किनारे या बीच में नावों का प्लेटफॉर्म बनाकर परम्परागत औजारों से खुदाई होती थी। बालू की यह खुदाई नदियों में पानी कम होने के दौरान यानी अक्टूबर महीने से शुरू होती थी। नदी ने बालू निकालकर खाली नाव पर रखा जाता था। नाव बालू मापने की एक इकाई भी थी। उस पर कर लगता था जिसे 'नवाई' कहते थे। इस प्रकार की बालू खनन में निषाद सामुदायिक रूप से संगठित होकर काम करते थे। बिहार में से 1980 के दशक में राजनीतिक दबंगों ने इस व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया था और इस पर लगभग एकाधिकार जमा लिया था।[26] उत्तर प्रदेश में यह 1990 के दशक में शुरू हुआ जिसके खिलाफ़ मामला उच्च न्यायालय तक पहुँच गया जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है।

उत्तर प्रदेश में शीघ्रातिशीघ्र लाभ कमाने और अधिक से अधिक धन कमाने के लिए आर्थिक और सामाजिक रूप से दबंग समुदायों ने 'माफिया' की मिलीभगत से यमुना नदी के कछार में जेसीबी और ड्रेजर मशीनें उतार दीं। इससे बालू खनन का मैदान असमान हो गया और जिन लोगों के पास मशीनें थीं, उन्होंने तेजी से बालू का खनन करना शुरू कर दिया।[27] सरकार ने जो नियम/अधिनियम बनाये थे, उसका खुलकर दुरुपयोग हुआ। निषाद समुदाय को सरकार ने अपने विभिन्न नियमों/अधिनियमों के द्वारा बालू, मोरंग, बजरी या ऐसे ही अन्य लघु खनिजों (माइनर मिनरल्स) को उत्खनित करने के लिए जो वरीयता अधिकार दिये थे वे प्रच्छन्न प्रतिनिधियों द्वारा हड़प लिये जाने लगे तो इसके विरुद्ध स्वयं निषाद समुदाय और विभिन्न जन संगठन

लामबन्द भी हुए। 3 मार्च 2005 को आल इण्डिया किसान मजदूर सभा (ए.आई.के.एम.एस.) के नेतृत्व में सैकड़ों निषादों ने कंजासा गाँव में विरोध प्रदर्शन किया। पुलिस के आने पर यह प्रदर्शन हिंसक हो उठा और दोनों पक्षों के लोग घायल हुए। अभी भी इसका मुकदमा माननीय उच्च न्यायालय में चल रहा है। इस घटना को हुए एक दशक से ज्यादा का समय हो गया है, और स्थितियाँ बदली नहीं हैं। दैनिक हिन्दुस्तान के इलाहाबाद संस्करण की एक ख़बर इसे बताने के लिए पर्याप्त है :

> घूरपुर थाना क्षेत्र के कंजासा, कैनुआ, बिरवल आदि कई घाटों पर काफी दिनों से बालू का अवैध खनन किया जा रहा है। इसकी जाँच कई बार नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल (एनजीटी) टीम ने जिला प्रशासन के साथ की। एनजीटी टीम ने नदी से बालू निकाल रहे नाविकों को देखा तो उन्होंने नदी से बालू निकालने के लिए सख्ती से मनाही की। लेकिन नाव से बालू निकालना बन्द होना तो दूर कंजासा में खुलेआम काफी दिनों से जेसीबी से यमुना नदी के भीतर घुसकर बालू का अवैध खनन किया जा रहा है। लोगों का मानना है कि जब बालू खनन के घाटों की जाँच करने के लिए जिला प्रशासन की टीम निकलती है तो खनन माफियाओं को खनन विभाग की ओर से सूचना मिल जाती है। जिससे क्षेत्र के घाटों पर सन्नाटा पसर जाता है। जब टीम जाँच करके वापस होती है उसके बाद से ही फिर अवैध खनन जोरों से शुरू हो जाता है। इस समय कंजासा घाट पर जेसीबी से बालू का अवैध खनन जोरों पर है जिसे लेकर स्थानीय बालू मजदूरों में काफी रोष व्याप्त है।[28]

इस सबके खिलाफ़ निषाद समुदाय के लामबन्द होने पर हिंसा की घटनाएँ भी सामने आती हैं। इसके बाद पुलिस, प्रशासन का प्रवेश इस दृश्य में होना अनिवार्य है। फर्जी प्रथम सूचना रिपोर्ट, पाबन्दी और कानून-व्यवस्था को बनाये रखने में पुलिस की भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता है लेकिन निषादों के मामले में जो पाया गया है,

वह यह है कि उनके खिलाफ़ कई बार आधारहीन मुक़दमे दर्ज़ किये गये हैं। इसके खिलाफ़ निषाद सामुदायिक नेताओं और जन संगठनों ने न्यायालय में गुहार भी लगायी। पब्लिक यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज, यू.पी. चैप्टर ने बालू खनन में मशीनों के प्रयोग और इसके द्वारा गरीबों की जीविका छीन लिये जाने के विरोध में और कुछ बालू खनिकों के ऊपर गलत ढंग से प्रथम सूचना रिपोर्ट दर्ज़ कराये जाने के विरुद्ध उच्च न्यायालय, इलाहाबाद में एक जनहित याचिका दायर की थी। इस याचिका पर विचार करते हुए उच्च न्यायालय ने मशीनों द्वारा बालू खनन पर रोक लगा दी। इसमें माननीय न्यायालय ने मशीनों का प्रयोग करने वाले ठेकेदारों के विरुद्ध कार्रवाई करने और राज्य मानवाधिकार आयोग को एक पक्ष बनाने का निर्देश दिया। इलाहाबाद और कौसाम्बी जिले के जिला मजिस्ट्रेटों से जवाब दाखिल करने के लिए कहा गया कि उन्होंने गरीबों की समस्या से निबटने के लिए क्या-क्या कदम उठाये हैं? कौसाम्बी के जिला मजिस्ट्रेट ने एक लम्बे समय तक अपना कोई हलफनामा जमा नहीं किया था। और यह मुकदमा जब अन्तिम बार 7 दिसम्बर 2012 को न्यायालय के समक्ष आया तो उसने बार-बार के निर्देशों के बाद जिला मजिस्ट्रेट द्वारा हलफनामा दायर न करने को बहुत ही गम्भीरता से लेते हुए कौसाम्बी के जिला मजिस्ट्रेट को सदेह उपस्थित होने का आदेश दिया।[29] बाद में यह मुकदमा ख़ारिज हो गया।

इसी प्रकार 4 फरवरी 2021 को इलाहाबाद में यमुना नदी के किनारे बँसवार गाँव में निषादों और इलाहाबाद प्रशासन के बीच एक हिंसक झड़प हुई। यमुना नदी के दाहिने तट पर बसे इस गाँव की जीविका का स्रोत यमुना नदी की मछलियाँ और बालू है। घटना के दिन निषादों द्वारा बालू निकालकर नदी के किनारे रखने पर स्थानीय स्तर पर दो पक्षों में मामूली कहासुनी हो गयी। इसके बाद प्रयागराज पुलिस ने कुछ निषाद नौजवानों को पकड़ लिया, उनके हाथ बाँध दिये। यह देखकर बँसवार गाँव के अन्य लोग आ गये जिसमें महिलाएँ

भी थीं। महिलाओं ने नौजवानों को छुड़ाने का प्रयास किया जिसके बाद पुलिस ने लाठीचार्ज किया और निषादों की सोलह नावें जेसीबी मशीनों से तोड़ डालीं। इस घटना से गुस्साये निषादों ने भी जेसीबी मशीन को तोड़ डाला। इस झड़प में तीस के करीब लोग घायल हुए और पुलिस ने दो सौ के करीब लोगों पर प्राथमिक सूचना रिपोर्ट दर्ज़ की। इस घटना पर प्रयागराज और आसपास के जिलों में पिछले दो दशक से सक्रिय अखिल भारतीय किसान मजदूर सभा ने एक रैली निकालकर पुलिस की कार्रवाई का विरोध किया।[30] वास्तव में इलाहाबाद हाईकोर्ट व उत्तर प्रदेश सरकार के कई शासनादेश हैं जो इस बात को रेखांकित करते हैं कि नदियों में बालू का खनन बीच धारा से होना चाहिए जिससे तटबन्ध व तटबन्ध के किनारे के जीव-जन्तु सुरक्षित रहें। निषाद समुदाय के लोग लगातार यह माँग करते चले आ रहे हैं कि 24 जून, 2019 का नाव से खनन को प्रतिबन्धित करने वाला उत्तर प्रदेश सरकार का आदेश वापस ले लिया जाए।[31]

नदी न केवल धरती के विभिन्न इलाकों को जोड़ती है बल्कि समुदायों और व्यक्तियों को भी आपस में जोड़ती है। यह निषादों को एक बन्धन में बाँधती है। इस घटना के खिलाफ़ पूर्वी उत्तर प्रदेश के निषाद लामबन्द हुए और उनमें से जो उत्तर प्रदेश एवं केन्द्र सरकार में सत्ताधारी भाजपा के सांगठनिक कार्यों से जुड़े थे, उन्होंने इस्तीफ़े की पेशकश की। इसी बीच बँसवार गाँव के कुछ युवा निषाद सीधे उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री योगी आदित्यनाथ से मिलने गये और उन्होंने उनसे वे मुक़दमे वापस लेने की की माँग की जो उनके गाँव के लोगों के खिलाफ़ लिखे गये थे। 10 फरवरी 2021 को पुलिस के आला अफ़सर दल-बल सहित आए और यह घोषणा की कि उनके खिलाफ़ कोई अग्रिम कार्रवाई नहीं होगी और जिला प्रशासन ने इसका विश्वास दिलाया। जैसा कि पहले ही बताया गया है कि एक 'रणनीति के रूप में निषाद जन 'अर्ज़ी और आन्दोलन' का सहारा लेते हैं। बँसवार की घटना ने पूरे पूर्वी उत्तर प्रदेश के निषादों को लामबन्द कर दिया।

इसने पहले सामुदायिक आन्दोलन को जन्म दिया और उसके बाद यह राजनीतिक आन्दोलन के रूप में बदलने लगा। निषाद पार्टी, सपा और काँग्रेस ने इस घटना का संज्ञान लिया और बँसवार गाँव में अपने प्रतिनिधि भेजे। निषाद पार्टी के सर्वेसर्वा डॉ. संजय निषाद इलाहाबाद आए और उन्होंने कार्यवाही का भरोसा दिलाया। 21 फरवरी 2021 को काँग्रेस की प्रियंका गांधी बँसवार गाँव पहुँचीं। उन्होंने वहाँ के लोगों के साथ एक जनसभा की। उन्होंने यह भी कहा कि काँग्रेस प्रभावित लोगों को दस लाख रुपये की सहायता देगी और उसके कार्यकर्ता नदी अधिकार यात्रा निकालेंगे। नदी के संसाधनों पर प्राथमिक हक़ निषादों है, इस विचार के साथ काँग्रेस ने उत्तर प्रदेश सरकार से बालू खनन के लिए 'निषादराज कोऑपरेटिव सोसायटी' के गठन और बालू माफिया की समस्या पर श्वेत पत्र जारी करने की माँग रखी। इसी बीच उत्तर प्रदेश के पूर्व मुख्यमन्त्री अखिलेश यादव ने अपनी प्रयागराज यात्रा के दौरान कहा कि यदि उनकी 2022 में उत्तर प्रदेश में सरकार बनती है तो निषादों को सरकार की ओर से नाव दी जाएगी। जाहिर है कि उनका यह सन्देश न केवल बँसवार गाँव के निषादों के लिए था बल्कि पूरे उत्तर प्रदेश के निषादों के लिए था। निषादों के लिए नाव बहुत महत्त्व रखती है। जैसा हमने अपने फ़ील्ड वर्क के दौरान यह दर्ज किया है कि नदी के किनारे बसे किसी निषाद के जीवन में नाव का वही स्थान है जो किसी किसान के जीवन में आज से बीस वर्ष पहले बैल और आज ट्रैक्टर का है। नाव निषाद के लिए रोजीरोटी का एक साधन है।

निषाद समुदाय नदियों में मशीनों द्वारा बालू खनन का विरोध[32] मात्र इसी आधार पर नहीं करता है कि इससे उनकी जीविका छिन जाएगी बल्कि वे यह भी कहते रहे हैं कि इससे नदी की पवित्रता भी नष्ट होगी। अनियन्त्रित खनन मछली के अण्डे देनी वाली जगहों को नष्ट कर देगा और इसके साथ ही साथ नदी में रहने वाले जीव-जन्तुओं जैसे कछुए, साँप और अन्य जानवरों का भी जीवन संकट में पड़ जाएगा। इससे कछार की सब्जी व फलों की खेती भी नष्ट होगी।

फलस्वरूप यह निषादों के बीच बेरोजगारी और गरीबी को बढ़ावा देगा। यह बातें एक सामूहिक साक्षात्कार में निषाद जनों ने कही थी। इसमें निषादों के कुछ सामुदायिक नेता और बुद्धिजीवी शामिल थे।[33] उन्होंने यह भी आशंका जतायी कि नदी का करार नदी में लगातार गिरता जाएगा और इससे नदी उथली हो जाएगी। नदी के उथली होते जाने से बाढ़ की आशंका प्रबल हो जाएगी। हमें यह जानकर आश्चर्य होगा कि यही बातें बाढ़ और नदी-विज्ञान के जानकार भी कहते रहे हैं।[34] वास्तव में नदी इंजीनयरिंग पर ज्यादा जोर देते रहने से भारतीय नीति-निर्माताओं द्वारा कभी भी स्थानीय चातुरी और सामुदायिक अनुभवों को वह मान्यता नहीं दी गयी जो उसे दी जानी चाहिए थी। दक्षिण अफ्रीका, इज़रायल और वियतनाम के अनुभव दिखाते हैं कि विभिन्न समूहों को इससे जोड़ा जाना चाहिए और स्थानीय अनुभवों को सम्मान मिलना ही चाहिए।[35] वास्तव में व्यापक स्तर पर बालू खनन से गंगा, यमुना और उसकी सहायक नदियों में जीव-जन्तुओं का जीवन संकट में पड़ गया है।[36] इस पूरे परिदृश्य को एक साझे भू-दृश्य (कॉमन लैण्डस्केप) और साझे भविष्य की सामाजिक कल्पना से ही समझा जा सकता है। एक का अस्तित्व दूसरे पर निर्भर है। जानवर, मछली, मनुष्य और नदी को अलग-अलग देखना उचित नहीं होगा। न तो यह पृथ्वी पर जीवन की दृष्टि से वहनीय विचार है और न ही समाज विज्ञान की दृष्टि से। यहाँ पर यह बात भी रेखांकित किये जाने के योग्य है कि गंगा नदी में 140 से ऊपर मछलियों की प्रजातियाँ, कछुओं की बारह प्रजातियाँ और मगरमच्छ की दो प्रजातियाँ पायी जाती हैं।[37] इस किताब के पिछले अध्यायों में ऐतिहासिक काल से ही गंगा में सूँस के बारे में लिखा ही गया है। जब तक पर्याप्त मात्रा में नदी में जल नहीं रहेगा तब तक नदियों में जलीय जीवन की कल्पना नहीं हो सकती है। इस जलीय जीवन के साथ ही समुदायों का जीवन बचेगा। ऐसा नहीं हो सकता है कि जलीय जीवन और उस पर आधारित वनस्पति जगत् एवं प्राणी जगत् छिन्न-भिन्न हो जाए और समुदाय बचा रह जाए। यह

कोई अनायास नहीं है कि भागलपुर में गंगा के किनारे बसे समुदायों ने 1980 के दशक से ही गंगा को अविरल बहने देने का आन्दोलन चलाया हुआ है।

इस प्रकार निषाद समुदाय अपने परम्परागत ज्ञान के साथ नदी की रक्षा के लिए तर्क गढ़ता है। गंगा-यमुना में मानसून के दौरान हिमालय व उत्तरी मैदानों से भारी वर्षा का पानी आता है। इस पानी के निकास का रास्ता तंग होने से ऊपरी क्षेत्रों में भारी बाढ़ आएगी और नदी के किनारे के गाँव नदी की धारा में समा जाएँगे। नदी के किनारे के अधिकांश गाँव निषादों की बस्तियों से परिपूर्ण हैं। इससे नदी के किनारे की खेती, बालू खनन व उतरवाई के धन्धे चौपट होंगे। वास्तव में समुदायों के इस गैर मुद्रित ज्ञान को शेष दुनिया से साझा करने की चुनौती तब तक नहीं आयी थी जब तक कि उन्हें उनके प्राकृतिक अधिवासों से जबरदस्ती बेदखल नहीं किया जाने लगा था। वर्ष 2018 में निषाद जनों ने नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल से शिकायत की थी कि मशीन चालित नाव से जो उत्खनन होता है, उससे नदी-पारिस्थितिकी बहुत तेजी से नष्ट होती है, मछलियाँ, झींगे, कछुए, सूँस का जीवन संकट में पड़ जाता है और सबसे बढ़कर नदी के नष्ट होने से निषादों की जीविका का आधार छिन जाता है। इसलिए यह पूरा आन्दोलन नदी, मछलियाँ, झींगे, कछुए, सूँस को बचाने का आन्दोलन के रूप में भी देखा जा सकता है। इसे केवल बालू खनन से जोड़कर नहीं जाना चाहिए। वर्ष 2017 में मार्च-अप्रैल के दौरान फ़ील्ड वर्क के दौरान एक वृद्ध निषाद ने मुझसे कहा था कि इलाहाबाद की रक्षा तो संगम के लेटे हनुमान जी करते हैं, गंगा-यमुना की रक्षा हम सब निषाद करते हैं। इस कथन के आलोक में इस आन्दोलन को आप देखें तो समझ जाएँगे कि देश में नदी को बचाने के लिए लोग कैसे लड़ रहे हैं, हार रहे हैं, कभी-कभी जीत भी रहे हैं। जेसीबी मशीनें नदी के घाटों को खोद देती हैं और वहाँ के जन्तुओं, मछली व वनस्पतियों को नष्ट कर देती हैं, वे घाट पर गड्ढे करके नदी के प्राकृतिक प्रवाह को

भी प्रभावित कर देती हैं। इसलिए निषाद विरोध करते हैं। वास्तव में मशीन का विरोध पुराने युगों में लौट जाना नहीं है। वाराणसी के घाटों पर मशीन चालित नावों का विरोध इस सन्दर्भ में देखा जा सकता है। वाराणसी में निषादों की तरह डोम समुदाय के लोगों ने मशीनीकरण का विरोध किया था। उन्होंने हरिश्चन्द्र घाट पर बिजली के शवदाह गृह स्थापित करने के सरकार के फैसले का एक लम्बे समय तक विरोध करने के बाद राज्य से समझौता कर लिया। 1986 में अपनी मृत्यु तक डोमों के सामुदायिक नेता और डोम राजा कैलाशनाथ चौधरी वाराणसी के जिलाधिकारी से संघर्ष करते रहे। उनकी मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी ने प्रशासन की बात मान ली। इसके कारण लगभग 400 डोम जनों को दिक्कत का सामना करना पड़ा। इससे उनकी आय कम हो गयी।[38] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह जरूरी नहीं है कि राज्य द्वारा बनाये गये नियम समुदायों की बेहतरी के लिए ही काम करें। वे उनकी भलाई की विपरीत दिशा में भी जा सकते हैं।

वाराणसी में गंगा नदी में क्रूज चलाने का विरोध वहाँ के नाविक कर रहे हैं। उनका कहना है कि अलकनन्दा क्रूज नामक यह पहल निषादों का रोजगार छीन रही है। इसमें एक निश्चित राशि लेकर वाराणसी के चिह्नित घाटों के बीच सैर करायी जाती है। इसके अन्दर एक सामान्य नाव या बजरे की अपेक्षा ज्यादा लोग आते हैं। बड़े समूह में आने वाले तीर्थयात्री, शहरी और नौजवान इसे ज्यादा तवज्जो देते हैं। इसके कारण नाव से सैर कराने वाले नाविकों का नुकसान होता है।[39] जुलाई–अगस्त 2020 में मैंने इस समस्या को थोड़ा लम्बे समय तक देखा और पाया कि स्थितियाँ बदली नहीं हैं। इसी बीच कोविड-19 संकट के कारण निषादों की जीविका बुरी तरह से प्रभावित हुई। वाराणसी में कई निषाद परिवारों को दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना कठिन साबित होने लगा। चन्दौली जैसे जिलों में गंगा के किनारे के निषाद और भी दिक्कत में आ गये। इसी प्रकार गंगा नदी के दाहिने तट पर क्रूज को रोकने, माल चढ़ाने और उतारने का एक प्लेटफार्म

बनाया जा रहा है। वाराणसी के निषादों का कहना है कि इससे उनका रोजगार प्रभावित होगा। दूसरी तरफ उत्तर प्रदेश सरकार और केन्द्र सरकार का कहना है कि इससे निषाद समुदाय का भला होगा। मार्च 2019 में उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री योगी आदित्यनाथ ने कहा कि इस योजना से इस नदी के किनारे रहने वाले मल्लाह और निषाद जाति के लोगों को सबसे ज्यादा रोजगार प्राप्त होगा।[40] अगस्त 2020 में जब मैंने एक फोकस्ड ग्रुप डिस्कसन में यह बात अस्सीघाट पर काम करने वाले निषादों के एक समूह से साझा की तो उन्होंने कहा कि हाँ, हमें यह पता है कि सरकार क्या कह रही है लेकिन 'हम बच्चे नहीं हैं जो अपना भला-बुरा नहीं जानते हैं।' यहाँ हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि समुदाय राज्य से किसी पितृवादी शासकीय दृष्टिकोण की उम्मीद नहीं करते हैं बल्कि वे अपना स्वभाविक विकास चाहते हैं। उधर राज्य हमेशा अपने आपको पिता और समुदायों को शिशु कहता रहता है। इसे हम अशोक के अभिलेखों से लेकर पूरी दुनिया में औपनिवेशिक नीतियों की संरचना में लक्षित कर सकते हैं। एशिया और अफ्रीका के विभिन्न देशों को यूरोप ने 'शिशुवत' माना और उनके विकास करने के आधार पर अपनी क़ब्जेदारी को जायज़ ठहराया।[41] नदियों के किनारे बसे निषाद न केवल खुदमुख्तारी चाहते हैं बल्कि वे एक वैकल्पिक विकास दृष्टि की हिमायत भी करते हैं। शुरू-शुरू में किसी को भी इन आन्दोलनों में मुख्य धारा के आर्थिक मॉडल की आलोचना दिख सकती है लेकिन निषाद समुदाय के बड़े-बूढ़ों का कहना रहा है कि 'यह एक टिकाऊ रास्ता है जिसमें सबका पेट भरेगा। इसमें सभी सुरक्षित हैं।'

उत्तर भारत की नदियों के किनारे चलने वाले इन सामाजिक-पर्यावरणीय आन्दोलनों में एक सामुदायिक अर्थव्यवस्था या कम्युनिटी इकोनॉमी के सतत लक्षण चिह्नित किये जा सकते हैं। इसमें मनुष्य और मनुष्येतर जीवन को बचाने के साथ जलवायु और पृथ्वी की चिन्ता भी शामिल है। वास्तव में किसी समुदाय के बचे रहने के लिए इस प्रकार

की सामुदायिक अर्थव्यवस्थाएँ जरूरी हैं।[42] इन आन्दोलनों का एक नैतिक पक्ष भी है। वह यह है कि लोगों को उतना ही कमाना चाहिए या इकट्ठा करना चाहिए जितना किसी व्यक्ति या परिवार की आवश्यकता हो। यह नदी के साथ उसकी पारिस्थितिकी की रक्षा का भी आन्दोलन है। इधर के वर्षों में नदीय जीवों की रक्षा के प्रति सरकार, विद्वानों और सिविल सोसाइटी का ध्यान गया है और कुछ ईमानदार प्रयास भी किये गये हैं लेकिन वे अपनी सकारात्मक परिणति तब तक नहीं प्राप्त कर सकते हैं जब तक कि नदियों को वह गरिमा न वापस की जाए।[43] जिसकी कल्पना निषाद समुदाय अपने दैनन्दिन जीवन में करते हैं। कंजासा इलाहाबाद के एक वृद्ध नाविक ने यह बात कही थी कि वे इसलिए मशीन द्वारा बालू खनन का विरोध करते हैं क्योंकि वह नदी को हमेशा के लिए नष्ट कर देती है। उस वृद्ध निषाद की गवाही में आप महात्मा गांधी की छाया देख सकते हैं जो मशीनीकरण को मनुष्य के लालच और औपनिवेशीकरण का कारण मानते थे।

सन्दर्भ

1. नदियों के किनारे अवैध बालू खनन की समस्या उत्तर भारत में बढ़ती ही गयी है। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में बहने वाली केन नदी में पाये जाने वाले घड़ियालों का जीवन इससे संकट में पड़ गया है। यह केवल एक बानगी भर है, छोटी-बड़ी नदियों में होने वाले अनियन्त्रित बालू खनन ने इन नदियों के किनारे की वनस्पति और इससे सम्बद्ध प्राणी-जगत् का जीवन संकट में डाल दिया है। देखिए अमर उजाला, बाँदा, दिनांक 21 दिसम्बर 2020
2. सिंह, रमाशंकर (2020) : 127
3. सिंह, रमाशंकर (2020), वही
4. https://www.gbrmpa.gov.au/our-partners/traditional-owners 29 फरवरी 2020 को देखा गया।

5. वन अधिकार कानून के बारे में देखिए चौबे, कमल नयन (2015)
6. पाठक, शेखर (2019) : 515
7. फ़रवरी 2013 में किया गया फ़ील्ड वर्क।
8. गुहा, रणजीत (2009), स्माल वाइस ऑफ़ हिस्ट्री, पर्मानेंट ब्लैक, रानीखेत।
9. हिडेगर, मार्टिन (1987), बीइंग एण्ड टाइम, बेसिल ब्लैकबेल, ऑक्सफ़ोर्ड : 206, गुहा, रणजीत (2009) में उद्धृत।
10. ब्रेमन, इयान (2016)
11. घोष, अमिताव (2016) : 122–23
12. शर्मा, मुकुल (2020) : 34
13. https://www.bhadasymedia.com/ganga-ko-behne-do/ 8 नवम्बर 2020 को देखा गया। श्री अनिल प्रकाश से 25 अक्टूबर 2020 को व्यक्तिगत बातचीत।
14. योगेन्द्र और सफदर इमाम कादरी (1990) : 11
15. दत्ता, सायंतोनी (2017) : 56
16. कार्लसन, बेंग्त का लेख 'इंडीजेनस नेचर : फॉरेस्ट एण्ड कम्युनिटी डायनामिक्स इन मेघालय, नॉर्थ-ईस्ट इण्डिया', : 170–98, सेडरलॉफ़, गुनेल और के. शिवरामकृष्णन (2006) में संकलित।
17. शाह, अल्पा (2010)
18. सुब्रमन्यम, अजन्ता (2013)। इस विषय पर शेखर पाठक (2019) भी देखें।
19. ऑलिवेल, पैट्रिक (2013) में विशेष रूप से खनन से सम्बन्धित हिस्से देखिए : अधिकरण 2, अध्याय 12, पृष्ठ 127–32
20. आर. ट्राटमैन, थॉमस (2015) : 48
21. क्रैबट्री, जेम्स (2018)
22. चन्द्रिका प्रसाद निषाद बनाम उत्तर प्रदेश राज्य तथा अन्य, 12 जुलाई, 2006 को माननीय इलाहाबाद उच्च न्यायालय की लखनऊ खण्डपीठ

(लखनऊ) के क्षेत्राधिकार में।

23. विद्सो, जेफ्री (2013)

24. https://khabar.ndtv.com/topic/%E0%A4%AC%E0%A4%BE%E0%A4%B2%E0%A5%82-%E0%A4%AE%E0%A4%BE%E0%A4%AB%E0%A4%BF%E0%A4%AF%E0%A4%BE दिनांक 13 फरवरी 2020 को देखा गया।

25. शाह, अल्पा (2010) : 210-31

26. https://www.nationalgeographic.com/environment/2019/06/inside-india-sand-mining-mafia/ दिनांक 2 मार्च 2020 को देखा गया।

27. मशीनों और अपनी प्रस्थिति से रणनीतिक रूप से बेहतर दशा में होने के कारण ये समूह गरीब और अपवंचित निषाद समुदाय के लोगों को बालू के खनन के परम्परागत पेशे से बाहर कर देते हैं और उस पर अपना एकाधिकार स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

28. दैनिक हिन्दुस्तान, 21 मई 2019. https://www.livehindustan.com/uttar-pradesh/gangapar/story-mining-of-illegal-sand-from-jcb-in-kanjasa-wzy0677.html. 25 मई 2019 को देखा गया।

29. इलाहाबाद उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के न्यायालय में 2010 की जनहित याचिका संख्या-16455, पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज यू.पी. चैप्टर बनाम उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा प्रमुख सचिव (गृह) तथा अन्य का वही निर्णय। दिनांक 26 मार्च 2010 को दायर किया गया यह मुकदमा दिनांक 1 मार्च 2019 कोन्यायालय ने मेरिट के आधार पर ख़ारिज कर दिया। http://www.allahabadhighcourt.in/apps/status/inde&.php/case-number 15 जून 2019 को देखा गया।

30. फरवरी 2021 में बँसवार गाँव में किया गया सामूहिक साक्षात्कार।

31. अमर उजाला, 5 फरवरी 2021, इलाहाबाद संस्करण।

32. सिंह, रमाशंकर (2017) : 264–72
33. जनवरी 2019 में संगम क्षेत्र में किया गया सामूहिक साक्षात्कार।
34. https://www.downtoearth.org.in/news/water/why-does-kosi-river-cause-devastating-floods-so-often-answer-lies-in-massive-siltation-study–60014 दिनांक 04 जुलाई 2018 को देखा गया।
35. सेडरलॉफ़, गुनेल और महेश रंगराजन (2018) : भूमिका, पृष्ठ 32
36. मैलेट, विक्टर (2017) : 130–32
37. सेडरलॉफ़, गुनेल और महेश रंगराजन (2018) में रवि अग्रवाल का लेख, नेचुरल नो मोर : डेल्ही'ज यमुना रिवर : 196
38. सिंह, रघुबीर (1992) : 93–94
39. जनवरी 2019 में किया गया फ़ील्ड वर्क।
40. https://www.livehindustan.com/lok-sabha-election/story-lok-sabha-elections-2019-namgy-gange-has-become-unremitting-and-unreliable-ganga-yogi-2462109. html. 20 नवम्बर 2019 को देखा गया।
41. चटर्जी, पार्थ (2020) : 29–30
42. कोठारी, आशीष (2019) : 127–129
43. रंगराजन, महेश आदि (2014) में नचिकेता केलकर और जगदीश कृष्णास्वामी को देखें।

शास्त्र, लोक और स्मृति में नदी : गंगा का सन्दर्भ

भारतीय समाज की बनावट और उसके ढर्रे को समझने के लिए वैकल्पिक स्रोतों पर अपेक्षाकृत ध्यान नहीं दिया जा सका है। संस्कृत, पाली–प्राकृत सहित भारतीय भाषाओं के प्रकाशित साहित्य के द्वारा ही परिधीय समुदायों का इतिहास या कोई अन्य वैकल्पिक इतिहास लिखना मुश्किल है। औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक राज्य द्वारा नियन्त्रित और संरक्षित आर्काइव आधारित सामग्री की अपनी सीमाएँ हैं। जिसे बद्री नारायण 'उपेक्षित समुदायों का आत्म इतिहास' कहते हैं, उसे दर्ज करने के लिए हमें पाठ के बाहर देखने की जरूरत पड़ती है। यह पाठ देश की जनता की सामूहिक स्मृतियों के रूप में आकार लेता रहता है। जवाहरलाल नेहरू ने 21 जून 1954 को अपनी वसीयत में लिखा :

गंगा भारत के लोगों की प्रिय की नदी है, जिसके चारों ओर उसकी प्रजातीय स्मृतियाँ, उसकी आशाएँ और उसके भय, उसके उत्साह के गीत, उसकी जीत और उसकी हार जुड़ी हुई है। वह भारत की युगों पुरानी संस्कृति और सभ्यता की प्रतीक रही है जो सदैव परिवर्तनशील, प्रवाहमयी रही है...।[1]

प्राकृतिक भू–दृश्य सभी मनुष्यों को प्रायः एक जैसे ही दिखते हैं। सामान्य तौर पर मानवीय आँख जल को जल ही समझती है, नदी का किनारा, बालू का तट या नदी में चलती नाव एक ही तरह के भू–

दृश्य रचती हैं लेकिन इन प्राकृतिक भू-दृश्यों से विभिन्न मनुष्यों और मनुष्यों के समुदायों का सम्बन्ध भिन्न होता है। नदी का जो सम्बन्ध उसके तट पर पूजा-अर्चना करने वाले पुजारी का होता है, वही सम्बन्ध यजमान का नहीं होता है। किसी निषाद का नदी से रोजमर्रा का जो सम्बन्ध विकसित होता है, वही सम्बन्ध राज्य के प्रतिनिधि के तौर पर जिला कलेक्टर का नहीं होता है। वह नदी के बारे में किसी भिन्न धरातल पर सोच रहा होता है जहाँ नदी और उसके किनारे रहने वाली प्रजा को किसी कानून के द्वारा पाबन्द किया जाना होता है। इस प्रकार एक दिये गये समय के अन्दर किसी भू-दृश्य में निहित सत्ता मनुष्यों के भिन्न समूहों को भिन्न तरीके से प्रभावित करती है। इस अध्याय में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि किसी नदी को शास्त्र, लोक और स्वयं उससे जुड़ा समुदाय किस प्रकार याद करता है। दक्षिण एशिया के इतिहास पर लिखते हुए सुनील अमृत ने भारतीय समाज की बनावट, आर्थिक और राजनीतिक विचारों को नदियों के सम्बन्ध में समझने का प्रस्ताव दिया है।[2] वास्तव में किसी भी देश-काल में नदी एक सार्वजनिक स्थल में परिवर्तित हो जाती है जहाँ इतिहास, संस्कृति, धार्मिक विश्वास और राजनीति आपस में मिलते हैं। नदी, घाट, घाट से जुड़े इलाके मिलकर एक सुघट्य दायरे का निर्माण करते हैं।[3] यह दायरा अन्त में ग्रामीण क्षेत्रों में प्रवेश कर जाता है जहाँ समाज के विभिन्न हिस्से नदी से अपने सम्बन्ध को प्रकट करते हैं।

चूँकि नदी समाज को अन्दरूनी और बाहरी रूप में बदलने लगती है इसलिए इतिहासकार नदी को ही एक पाठ के रूप में देखने का प्रस्ताव रखते हैं। फर्नांद ब्रोदेल ने भौगोलिक और प्राकृतिक कारकों जैसे नदी, पर्वत, पत्थर और समुद्रों के ऐतिहासिक महत्त्व पर जोर दिया था। इसके साथ ही ब्रोदेल ने नदियों के इतिहास को एक 'दीर्घ अवधि' के रूप में देखा और रेखांकित किया और जोर दिया कि नदियाँ संस्कृतियों का भविष्य तय कर सकती हैं। अनुपम मिश्र ने

तो नदियों को 'समाज का तरल दर्पण' कहा है।[4] यहाँ तरल दर्पण का आशय है कि नदियों के बारे सोचते हुए समाज के बारे में एक समझ बनायी जा सकती है। नदी समाज को परिलक्षित करती है। वास्तव में नदी की यह तरलता नदी-स्थल को मिलने-जुलने के एक सामाजिक दायरे (सोशल स्पेस) में बदल देती है। मनुष्यों के मिलने-जुलने के यह दायरे एक अपरिचित एवं दुर्गम इलाके को एक परिचित धार्मिक स्थान के रूप में परिवर्तित कर देते हैं जहाँ पर विभिन्न क्षेत्र और समुदाय एक-दूसरे से अन्तरक्रिया करते हैं। बच्चे, विधवाएँ, घुमक्कड़, संन्यासी, पुजारी, किसान, व्यापारी, सैनिक, शासक और जमींदार आपस के बन्धन तोड़कर एक समय के लिए आपस में घुलने-मिलने लगते हैं।[5] इस प्रकार नदी विभिन्न समुदायों के सामाजिक-सांस्कृतिक संवाद का माध्यम बन जाती है। यहाँ यह तथ्य भी रेखांकित कर दिया जाना चाहिए कि भारत में नदियों को लेकर जो समझ है, वह बहुवचन में है। समाज के अलग-अलग हिस्से नदी को अलग-अलग तरह से समझते हैं। वह कोई समरूप इकाई नहीं है इसलिए नदी भारत की संस्कृतियों की बहुवचनीयता को भी प्रकट करती है।

यह बहुवचनीयता मनुष्यों के विभिन्न समुदायों में नदी को देखने, उसकी आराधना करने, उससे किसी आर्थिक या राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के तौर-तरीकों में देखी जा सकती है। किसी भी समाज के अलग-अलग हिस्सों को नदी अलग-अलग तरीके से रचती है और इसी प्रकार समाज के अलग-अलग हिस्से उसे अपनी विश्व-दृष्टि के अनुसार देखते हैं। नील नदी से सम्बन्धित अपने अध्ययन में तीर्जे ओस्तिगार्द ने दिखाया है कि नील नदी ने मिस्र के शासकों, पुजारियों और सामान्य जनता के जीवन को सँवारा है और यह सभी समूह अपने जीवन में उस नदी की उपस्थिति को किस प्रकार रेखांकित करते रहे हैं। मिस्र के पुजारी और किसान अलग-अलग आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक धरातल पर नदियों से अनुक्रिया करते रहे हैं। नदी के

साथ उनके इस सम्बन्ध को वहाँ के राजाओं ने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार पुनर्विन्यस्त करने का सदैव प्रयास किया है। इस क्रम नील नदी का अध्ययन मिस्र के समाज का अध्ययन बन जाता है।[6]

भारत में, आधुनिक समय में रणजीत गुहा ने अपने उत्तरवर्ती लेखन में स्वीकार किया है कि नदी ने उनके इलाके के इतिहास, भूगोल और सबसे बढ़कर सोचने के तरीके को प्रभावित किया। उसने लोगों को अपने जन्म स्थानों से बाहर जाने को मज़बूर किया।[7] इससे बंगाल का इतिहास बदल गया। इस प्रकार नदी न केवल अपनी स्थानीयता से बल्कि दूसरे अन्य स्थलों पर जहाँ वह मौजूद नहीं होती है, वहाँ भी इतिहास को बदलने लगती है। हालाँकि, इतिहास लेखन को 'नायक' की परम्परागत पकड़ से आज़ाद हुए एक लम्बा अरसा बीत चुका है लेकिन उसके अन्दर नायक की आभा मौजूद है। साहित्यकार नीरद सी. चौधरी से जब पूछा गया कि 'भारत देश के जीवन का वास्तविक नायक' कौन हो सकता है? उनका उत्तर था : पर्वत, नदियाँ और पठार।[8] नदियाँ राष्ट्रों और समुदायों के जीवन में जीवित ऐतिहासिक अस्मिताओं के रूप में आ खड़ी होती हैं और उनके बीच एक प्रमुख खिलाड़ी बन जाती हैं। वे खेल के नियम निर्धारित करने की हैसियत में आ जाती हैं। आधुनिक विज्ञान और तकनीक के प्रभावशाली एवं हस्तक्षेपकारी हैसियत में आने से पहले यह स्थिति तो रही है।

इस तथ्य को आदर की दृष्टि से देखा गया है कि आरम्भिक समयों में मनुष्य और नदी का सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ हुआ करता था। मनुष्य और नदी के बीच सहजीवी सम्बन्धों के मार्मिक उदहारण मिलते हैं। सहजीवी कहने का आशय यही है कि मनुष्य नदी के प्रति अपनी अनुक्रिया विभिन्न माध्यमों से व्यक्त कर सकता है जबकि एक 'जीवित पारितन्त्र' होने के बावजूद उसे यह सुविधा प्राप्त नहीं है। ऐसे में साहित्य की मदद नदी का पक्ष रखने में ली जा सकती है। वैसे लिखित संस्कृत पाठों में नदी का वह रूप नहीं मिलता है जो

मौखिक पाठों में बार-बार आता है। इन पाठों में कोई भी नदी एक 'जीवित पारितन्त्र' के रूप में सामने आती है। इस अध्याय में इस बात पर जोर दिया गया है कि नदी सामान्य लोगों के जीवन में किस प्रकार सम्मिलित है। अनुपम मिश्र एक लोककथा का उल्लेख करते हैं कि मैथिली के कवि विद्यापति जब अस्वस्थ हो गये तो उन्होंने अपने प्राण नदी में छोड़ने का प्रण किया। कवि प्राण छोड़ने के लिए नदी की तरफ चल पड़े, लेकिन बहुत अस्वस्थ होने के कारण नदी किनारे तक नहीं पहुँच सके। वे कुछ दूरी पर ही रह गये तो नदी से प्रार्थना की कि हे माँ, मेरे साहित्य में कोई शक्ति हो, मेरे कुछ पुण्य हों तो मुझे ले जाओ। कहते हैं कि नदी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और कवि को बहा ले गयी[9] : करजोर बिनमओ विमल तरंगे/ पुनि दरसन होए पुनिमती गंगे// एक अपराध छेमब मोर जानी/ परसल माय पाय तुअ पानी॥[10] आधुनिक तर्क और विज्ञान की कसौटी पर कसें तो पाएँगे कि भला मनुष्य के बुलाने पर नदी उसके पास क्यों चली जाएगी? यह केवल किस्सों में सम्भव हो सकता है। बिल्कुल यह किस्से में ही सम्भव हो सकता है। किस्से उस सामाजिक सच को अपने अन्दर सम्भव बनाते हैं जो बाहर सम्भव नहीं होता है। यह वास्तव में उसी आंगिक रिश्ते की ओर एक संकेत है जिसकी चर्चा इस किताब में बार-बार की गयी है। गंगा नदी लोक में गहरे तक समाहित नदी है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक के कर्मकाण्ड, मेले, गीत-संगीत में प्रकट होती रहती है। इस अध्याय में गंगा नदी के बारे में विचार करते समय उसकी उपस्थिति के तीन पक्षों का ध्यान रखा गया है : शास्त्र, लोक और स्मृति। शास्त्र में गंगा नदी का जो वर्णन मिलता है, वह लोक में वर्णित गंगा नदी से मिलता-जुलता तो है लेकिन लोक में वर्णित नदी का वर्णन शास्त्रों से साम्यता लिए हुए भी स्थान एवं समुदाय-बद्ध है, उसकी अपनी विशिष्टता है, और इन दोनों से भिन्न निषाद समुदाय के कल्पना लोक और जीवन में शामिल एक दूसरी गंगा नदी है। ए.के. रामानुजन ने रामायण के बारे में कहा था कि देश के विभिन्न हिस्सों

और संस्कृतियों में इसके कई आख्यान एवं रूप प्रचलित हैं। यही बात गंगा नदी के बारे में भी कही जा सकती है। इसे देश का हर हिस्सा एवं समुदाय अपने जीवन–बोध, अनुभव और भविष्य की जरूरतों के अनुसार परिकल्पित करता रहता है। इस प्रकार गंगा भारतीय समाज के जीवन में एक 'शाश्वत नदी' बन जाती है।

संस्कृत साहित्य में गंगा नदी एक ऐसे दायरे के रूप में उभरती है जहाँ उसे सुख सौभाग्य देने वाली, पाप हरने वाली नदी–देवी के रूप में वर्णित किया गया है। नदी का इतिहास लिखते समय उसे केवल ऐसे जल निकाय के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है जिस पर राज्य ने कब्ज़ा जमा लिया या जिसे साम्राज्यों के विस्तार का साधन बनाया गया और जिसे आधुनिक समय में तकनीकी प्रगति के कारण 'वाटर मशीन' में तब्दील हो जाना पड़ा। यह भी देखा जाना चाहिए कि उससे सीधे जुड़े समुदाय नदी को किस प्रकार देखते हैं। इस प्रकार नदी कई रूपों और पाठों (टेक्स्ट) के रूप में हमारे सामने आती है। सुदीप्त सेन इसे 'एक नदी का कई इतिहास' कहते हैं।[11] नदी हमारी एकरूप समझ को विखण्डित कर देती है। नदी का इतिहास निषाद समुदाय को ध्यान में रखकर भी लिखा जा सकता है।

ऋग्वेद मूलतः कविता की पुस्तक है जिसे विभिन्न समयों में विभिन्न कवियों ने रचा है। इसके बाद की शताब्दियों में इसके ऋषि–कवियों के नाम से मण्डलों में विभक्त किया गया है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पचहत्तरवें नदी सूक्त में नदियों की स्तुति की गयी है। इस नदी सूक्त के प्रथम मन्त्र में बताया गया है कि सिन्धु नदी अपने बल से सभी नदियों को अतिक्रान्त करके प्रवहमान है। इसके परवर्ती सभी मन्त्रों में सिन्धु का वर्णन हुआ है लेकिन पंचम मन्त्र में पूर्व दिशा की ओर बढ़ते हुए गंगा, यमुना और सरस्वती नदियों की स्तुति की गयी है। इसका सामान्य अनुवाद इस प्रकार होगा :

हे गंगा, हे यमुना, हे सरस्वती, हे सतलज आप सब मेरी इस स्तुति को परुष्णी, असिक्नी और वितस्ता आदि नदियों के साथ ग्रहण करें। तथा हे आर्जिकीया आप इसे सुषोमा के साथ सुनिए।[12]

पी.वी. काणे रेखांकित करते हैं कि ऋग्वेद के नदी सूक्त की इस प्रार्थना में नदियों का उल्लेख पूर्व दिशा से पश्चिम की ओर हुआ है। यह वैदिक जनों के पूर्वाभिमुखी प्रसार को इंगित करता है। यहाँ पर आए गांगय पद का अर्थ गंगा पर वृद्धि प्राप्त करता हुआ है।[13]

महाकाव्यों में गंगा नदी एक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्थल के रूप में परिवर्तित हो जाती है। महाकाव्यों के अन्दर घट रही घटनाओं का बड़ा हिस्सा नदियों के किनारे आकार ग्रहण करता है, नदियों के किनारे महाकाव्यों की कथाएँ सुनाई गयी हैं। इस प्रकार नदी एक ही समय इतिहास की निर्माता और उसकी साक्षी बन जाती है। महाभारत में तीर्थयात्रा के जो प्रसंग आए हैं उनका सीधा सम्बन्ध नदियों से है। वाल्मीकि रामायण में गंगा का वर्णन दो प्रकार से मिलता है। प्रथमतः बालकाण्ड से ही उनकी अर्चना में समर्पित श्लोक मिलने लगते हैं। गंगा की यह वन्दना एक कथा के रूप में मिलती है जहाँ विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को यह कथा सुना रहे हैं कि गंगा अवतरण किस प्रकार हुआ और वे उनकी महिमा गाते हैं। सर्ग 44 में यह कथा एक पूरी रात्रि में कही गयी और सुबह होते हुए उन्हें नदी पार करते हुए दिखाया गया है।[14] इस प्रकार नदी एक देवी के रूप में परिवर्तित होने के साथ ही एक ही समय और दायरे में 'कथा रूप' बदल जाती है और उसके साथ ही, वह 'इतिहास का स्थल' भी है। अयोध्याकाण्ड में गंगा नदी का सम्बन्ध निषादों से जुड़ता दिखाई देता है। अयोध्याकाण्ड में गंगा एक ऐतिहासिक स्थल के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। वहाँ राम, लक्ष्मण और सीता नाव से नदी पार करते हैं और सीता गंगा की वन्दना करती हैं।[15] अयोध्याकाण्ड में ही निषादों को गंगा नदी के अन्दर नौचालन में सन्नद्ध दिखाया गया है। उस समय गंगा नदी का किनारा घने वनों से आच्छादित था (4/85/2)

। शृंगवेरपुर में जब राम नदी पार कर रहे होते हैं तो उस अवसर पर राम और निषादराज गुह के संवाद में बराबरी के स्वरों को रेखांकित किया जा सकता है :

> हे बुद्धिमान निषादराज, हम सब की रात बड़े सुख से बीती है। तुमने हमारा बड़ा सत्कार किया। अब ऐसी व्यवस्था करो जिससे आपके मल्लाह बहुत सी नौकाओं के द्वारा हमें गंगा के उस पार उतार दें। (2/89/21)

तुलसीदास के रामचरितमानस में निषादराज को दीन-हीन दिखाया गया है। इसका कारण निषादों की आर्थिक दशा का खराब होना और उनका दारिद्र्य भी हो सकता है। रामायण में ही निषादराज गुह द्वारा भरत को मछली, मांस और शहद का उपहार देते हुए वर्णित किया गया है।[16] रामायण में इस समय वाल्मीकि गंगा के साथ उसमें रहने वाले जीव-जन्तुओं और तटवर्ती वनस्पतियों का सुन्दर चित्र खींचते हैं। वाल्मीकि गंगा को बड़ी-बड़ी मछलियों भरी हुई बताते हैं : महीमीनसमाकुलम 2/80/21। गंगा के जल में सूँस और साँपों का निवास बताया गया है। अयोध्याकाण्ड में सारस, सूँस, मगरमच्छ से भरी हुई गंगा नदी दिखाई पड़ती है।[17] यहीं पर कुबेरनाथ राय की वह बात काफी महत्त्वपूर्ण हो जाती है जब वे कहते हैं कि पूरी रामायण की कथा भले ही निषाद कल्पित न हो परन्तु उसके ताने-बाने में कुछ प्रसंग और विश्वास तो अवश्य ही ऐसे हैं जो निषादों में प्रचलित रहे होंगे।[18] जैसा हम आगे देखेंगे निषाद जनों ने अपनी अस्मिता निर्माण की प्रक्रिया में रामायण के वृत्तान्तों का सायास राजनीतिक प्रयोग किया है और गंगा नदी पर अपनी हक़दारी की लड़ाइयों में इसे लोकप्रिय बनाया है।

महाभारत में गंगा नदी के विविध सन्दर्भ मिलते हैं : गंगा के पृथ्वी पर आने, उसके मानवीय और अधिभौतिक स्वरूप के बारे में वर्णन मिलते हैं। वहाँ गंगा की पवित्रता और महिमा के आख्यान एवं जनमानस में उसकी छवियाँ अंकित हैं।[19] महाभारत के वनपर्व में गंगा की अर्चना

में कई पद मिलते हैं। महाभारत में तीर्थयात्रा के बारे में विस्तार से लिखा गया है। आरण्यक पर्व में तीर्थों की महिमा, उनकी पवित्रता, भौगोलिक अवस्थिति एवं दशा के बारे में बताते हुए उनके लौकिक एवं अलौकिक महत्त्व के बारे में व्यापक एवं गहन तरीके से लिखा गया है। इसमें भारत की विभिन्न नदियों के साथ गंगा नदी पर और उसके किनारे लगने वाले तीर्थों के बारे वर्णन किया गया है।[20] गंगा यमुना के संगम पर स्नान करने पर मनुष्य को दशाश्वमेध यज्ञ का तो फल मिलता ही है, इसके साथ वह अपने कुल को भी तारता है।[21]

पुराणों के भौगोलिक सन्दर्भ पर्वतों और नदियों को पवित्र स्थलों के रूप में चित्रित करते हैं। पुराणों में गंगा नदी की वन्दना जिस प्रकार मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वास्तव में गुप्तकाल और उसके ठीक बाद संस्कृत भाषा का विस्तार एवं सरलीकरण हुआ। वह पहले की अपेक्षा थोड़ा सरल हुई और उसने अपने नये श्रोता वर्ग खोजे। इस समय रामायण, महाभारत और पुराणों को सुनने की अनुमति स्त्रियों और शूद्रों को मिली।[22] संस्कृत भाषा पाठ से निकलकर मौखिक कर्मकाण्डों में प्रविष्ट हुई। तीर्थों का विचार पहले से ही प्रचलित था, अब वह और भी लोकप्रिय हो गया। ऐसे में गंगा सहित अन्य नदियों, पर्वतों और सरोवरों की यात्रा ने जोर पकड़ा। महाभारत के आरण्यक पर्व में कहा गया है कि कृतयुग में सभी स्थल पवित्र थे। त्रेता में पुष्कर सबसे अधिक पवित्र था, द्वापर में कुरुक्षेत्र लेकिन कलियुग में गंगा ही पवित्र है।[23] इससे यह ज्ञात होता है कि महाकाव्य और पुराण, यज्ञ और संस्कृत भाषा ज्ञान से मिलकर मुक्ति का मार्ग आम जनता तक ले जाना चाह रहे थे। इसमें तीर्थों ने एक भूमिका अदा की। गंगा नदी पहले से आदरणीय थी ही, उसने लोगों की कल्पनाओं को धर्म, मुक्ति और अवतारवाद से जोड़ दिया। व्रतों का विचार तेजी से पनपने लगा।[24] गुप्तकाल और उसके बाद अवतारवाद के विस्तार ने इसे सम्भव बनाया। विष्णु के अवतार कृष्ण के साथ गंगा की वन्दना की जाने लगी। स्वयं कृष्ण ने गीता में कहा कि नदियों में मैं गंगा हूँ

(स्रोतसामस्मि जाह्नवी,10,30)।[25] गंगा का तो महत्त्व तो बढ़ा ही, उसके किनारे के कई नगर तीर्थ की उच्च श्रेणी में गिने जाने लगे। इस समय 'त्रि-स्थली' की अवधारणा सामने आयी। इसमें शामिल स्थल थे : प्रयाग, काशी और गया।[26] प्रयाग पहले से महत्त्वपूर्ण स्थल था लेकिन अब उसे धर्मशास्त्रीय निबन्धों में बार-बार मुक्ति के नगर के रूप में उद्धृत किया जाने लगा। मुक्ति का मार्ग अब ज्ञान और तपश्चर्या से निकलकर तीर्थ स्थलों में संकेन्द्रित होने लगा। इन स्थलों के किनारे उन समुदायों का संकेन्द्रण होना स्वाभाविक था जो तीर्थों की कर्मकाण्डीय अर्थव्यवस्था से जुड़े थे, मसलन पुपुच्छादक, डोम, निषाद और कालान्तर में पण्डे। भारतीय लोकजीवन में मेलों की भूमिका भी इन तीर्थ स्थलों के साथ देखी जा सकती है, हालाँकि यहाँ पर वह विचारणीय विषय नहीं है।

गुप्त और गुप्तोत्तर काल के लौकिक साहित्य में गंगा का वर्णन हुआ है। कालिदास ने मेघदूत में भवभूति के उत्तररामचरित में गंगा के बारे में वर्णन मिलते हैं। सातवीं शताब्दी ईस्वी में स्थित भवभूति ने इसमें गंगा नदी का मानवीयकरण किया है। वे राम के पुत्रों लव और कुश की देखभाल करने वाली बतायी गयी हैं। भवभूति के अनुसार दोनों बच्चों का पालन-पोषण गंगा ने तब तक किया जब तक कि उनका दूध नहीं छूट गया। बाद में गंगा ने उन्हें महर्षि वाल्मीकि को सौंपा। इसी नाटक में गंगा को भगीरथकुल की अधिष्ठात्री देवता कहा गया है।[27]

इस प्रकार गंगा नदी के एक सामान्य अर्थ में सर्वमान्य हो गयी थी। भक्तिकाल में, विशेषकर सगुण भक्ति शाखा के कवि-सन्तों ने नदियों को अपनी अभ्यर्थना का विषय बनाया। दूसरी तरफ नानक, रविदास, दादू और कबीर ने नदियों के किनारे होने वाले कर्मकाण्डों और दिखावे की प्रवृत्तियों की आलोचना प्रस्तुत की।[28] मध्यकाल में गंगा

नदी के प्रति तुलसीदास ने व्यापक रूप से लिखा है। रामचरित मानस के बालकाण्ड में तुलसीदास ने गंगा की स्तुति सीता से करायी है। सीता राम और लक्ष्मण के साथ जब गंगा पार करके जाती हैं तो वे गंगा से प्रार्थना करती हैं कि, 'हे माँ, आप मेरा मनोरथ पूर्ण कीजिए जिससे मैं अपने पति और देवर के साथ आकर आपकी पूजा कर सकूँ।'[29] इसी तरह अन्य जगहों पर भी गंगा की स्तुति रामचरित मानस में देखने को मिलती है। भरत जब राम को अयोध्या लौटने के लिए मनाने जा रहे हैं उस समय भी रास्ते में पड़ने पर वे गंगा की स्तुति करते हैं जिसका उल्लेख तुलसीदास ने किया है। तुलसी के यहाँ गंगा के साथ एक रागात्मक रिश्ता दिखता है। वे गंगा को पवित्रता और परदुख कातरता की देवी के रूप में याद करते हैं। जब वे कहते हैं 'कीरति भनिति भूत भलि सोई/सुरसरि सम सब कहँ हित होई' तो प्रत्यक्षतः तो वे कीर्ति, कविता आदि की बात कर रहे हैं पर परोक्ष रूप में गंगा को इन गुणों की खान भी बता रहे हैं।[30] इसके साथ यह भी रेखांकित करने योग्य है कि तुलसीदास ने रामचरित मानस और कवितावली में गंगा नदी, उसकी प्राकृतिक सुषमा और निषादों के बारे में लिखा है। अब्दुर्रहीम खानखाना ने संस्कृत में गंगाष्टक की रचना की। पद्माकर के समय पण्डित जगन्नाथ की गंगालहरी काफी प्रसिद्ध हो चुकी थी। पण्डितराज जगन्नाथ इसमें एक दूसरी परम्परा में आते हैं जो मुगल राजदरबार से जुड़े थे। वे बादशाह शाहजहाँ (1628-1658) द्वारा संरक्षित विद्वत-समूह में सम्मिलित थे। उन्होंने गंगा की वन्दना में 'गंगा लहरी' नामक काव्य सृजित किया जिसके पचास से अधिक श्लोक मिलते हैं। इसके आरम्भ में ही वे कहते हैं :

> हे माँ गंगे, सारी वसुधा को सौभाग्यपूर्ण बनाने वाले, सहजता से संसार की सर्जना करने भगवान शिव के ऐश्वर्य, वेदों के सार, महात्माओं के पुण्य जैसा, अमृत से भी विशिष्ट आपका जल हमारे अमंगल को धो दे।[31]

गंगा लहरी कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यह पण्डितराज जगन्नाथ

की गंगा के प्रति उनकी समर्पण भावना के साथ गंगा नदी के जीव-जन्तुओं, उसकी पारिस्थितिकी को हमारे समक्ष रखती है। यह बात कवि वाल्मीकि से लेकर पद्माकर तक में सतत रूप से चली आयी है। वाल्मीकि, व्यास और तुलसीदास एवं सूरदास ने तो गंगा के साथ निषादों का उल्लेख किया है, अधिकांश कवियों ने गंगा के साथ उसमें रहने वाले जीव-जन्तुओं, सरीसृपों और उसके किनारे की वनस्पतियों का भावपूर्ण अंकन किया है।

सूरदास ने सूरसागर में बहुत ही संक्षेप में राम के साथ केवट के उस संवाद को वर्णित किया है जो उनके और केवट के बीच नदी पार करते समय हुआ माना जाता है।[32] इसका सांकेतिक महत्त्व यही है कि अवतारवाद की अन्तर्धारा के बीच निषाद जनों के बारे में साहित्यिक स्मृति सदैव बनी रही है। जिस प्रकार देश के विभिन्न हिस्सों में, विभिन्न भाषाओं में रामकथा और उसके संस्करण पाये जाते हैं, उसी प्रकार उन कथाओं के अन्दर निषादों की गाथा भी अनिवार्य रूप से पिरोयी है। मुझे यह सब पढ़ते समय बनारस के एक सयाने निषाद की बात याद आती है : 'भला हमारे बिना राम की चर्चा हो पाएगी? बिल्कुल नहीं।' उनकी यह भावना निषाद जनों के बीच ऐतिहासिक दावेदारी को जन्म देती है। किसी इतिहासकार के लिए रामकथा किसी मिथक के साहित्यिकीकरण का मामला हो सकता है लेकिन निषाद जनों के बीच यह समुदाय को सबल बनाने वाली स्मृति का काम करती है। सूरदास ने 'सूरसागर' में ही यमुना नदी को चारों युगों में यश की राशि, 'जम की जेठी, जग की महतारी—यम की बेटी और दुनिया की माँ' कहा है। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार कृष्ण हम पर कृपा करते हैं, उसी प्रकार तुम भी हम पर कृपा करो।[33] सूरदास द्वारा यमुना की यह वन्दना मध्यकालीन भारत की उस बृहत्तर धार्मिक, सांस्कृतिक और पारिस्थितिकीय परिवेश की ओर हमें ले जाती है जिसका वर्णन बार-बार पूर्व औपनिवेशिक भारतीय साहित्यकार करते रहे हैं। मनुष्य का नदियों के साथ यह जुड़ाव अपने सबसे सघन रूप

में नदियों और निषादों के बीच लक्षित किया जा सकता है।

भारत में उपनिवेशवाद आरम्भ ही हुआ था कि उसी दौर में ग़ालिब ने गंगा की यात्रा की और उस पर कविताएँ लिखीं। अपनी एक कविता में उन्होंने गंगा की एक-एक लहर को शुभ सन्देश देने वाली कहा था।[34] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गिरिधरदास ने भी गंगाशतक की रचना की जिसमें गंगा वन्दना की पुरानी परिपाटी पर उसके माहात्म्य की चर्चा है।[35] लगभग तीन हजार वर्षों की यह साहित्यिक परम्परा एक प्रकार की 'गंगा-कथा' का विस्तार है। इतिहास और मानविकी के क्षेत्र में जिस तरह से भारत की महाकाव्य संस्कृतियों की पड़ताल की गयी है, उसी प्रकार से नदियों, वनों, पर्वतों और समुद्र तटों के बारे में, उनके परिवेश में मनुष्य के हस्तक्षेप और इनके द्वारा मनुष्य के जीवन में इन संरचनाओं के साहित्यिक और सांस्कृतिक हस्तक्षेप पर अभी ठीक से विमर्श आरम्भ नहीं हुआ है। यह उस समय और भी आवश्यक हो जाता है जब हम 'प्लेनेटरी एज' की बात करना शुरू कर चुके हैं।[36] अब इतिहास अभिलेखागारों से बाहर मनुष्य की स्मृतियों और उसके साहित्यिक आस्वाद में भी तलाशा जा रहा है। ऐसे में नदियों का एक वैकल्पिक इतिहास इन स्रोतों से तैयार किया जा सकता है।

भारतीय मनुष्य और नदी के साथ वह सम्बन्ध क्षीण हुआ है जो इसकी ठीक-ठीक शिनाख्त कर सके लेकिन पूर्व औपनिवेशिक भारत में यह सम्बन्ध मौजूद है। आधुनिक समय की कविता में यह प्रवृत्ति गायब होती गयी है और कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाए तो एक शहरी मध्यवर्गीय पर्यटक मानस के कवि दिखाई पड़ते हैं जिनकी दृष्टि में गंगा या किसी अन्य नदी की धारा तो रहती है लेकिन उसका सामाजिक और जैविक पक्ष अनुपस्थित रहता है। ऐसा आधुनिक समय में मनुष्य के लगातार तकनीकी रूप से शक्तिशाली होते जाने और प्रकृति से उसके स्वाभाविक सम्बन्ध-विच्छेद के कारण हुआ है। नदी से अब उसका सम्बन्ध तात्कालिक और राहत हासिल करने

के लिए है। नदी से दूर बसे इलाकों के लोगों को जाने दीजिए, स्वयं किसी नदी के किनारे शहर के वासियों के लिए नदी 'पाँच बजे की सैर वाली जगह' बनती गयी है। कम से कम कानपुर, इलाहाबाद और बनारस के शहरियों के लिए यह बात थोड़े विश्वास के साथ कही जा सकती है। अब नदी से भारतीय मनुष्य का सम्बन्ध नितान्त उपयोगितावादी होता गया है इसलिए पढ़े-लिखे समाजों में नदियों के प्रति श्रद्धा और प्रार्थनाएँ गायब होती गयी हैं, उसकी जगह पर सिर्फ कर्मकाण्ड बचे हैं।

लोक के जीवन में गंगा

आम जनता के बीच नदियों से प्रतिदिन का सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध उस प्रकार नहीं दिखता है जैसा एक शहरी या विद्वान का नदी के साथ होता है। उनके लिए पशुपालन, मछली की आपूर्ति, कपड़ा धोने और नहाने की लौकिक क्रियाओं से लेकर सौगन्ध खाने, मनौती मानने, पूजा-अर्चना करने का सम्बन्ध नितान्त सहज होता है। जीवन जैसे भी रूप लेता है, नदी के साथ उनका रिश्ता बदलता रहता है लेकिन उसमें एक अदृश्य नाभिनालबद्धता कायम रहती है। वृद्ध-बालक, किशोरियाँ और ब्याहताएँ, विधवाएँ और परित्यक्त स्त्रियाँ नदियों से अपने सम्बन्ध को पुनर्जीवित करती रहती है।

इस अध्याय के इस खण्ड में केवल स्त्रियों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। वास्तव में स्त्रियाँ और नदियों का सम्बन्ध पौराणिक, ऐतिहासिक और रोजमर्रा की दृष्टि से अविभाज्य है। यदि ब्रह्मपुत्र को छोड़ दें तो भारत की अधिकांश नदियों का नामकरण स्त्रीवाचक ही रहा है। उन्हें सौन्दर्य और स्वातन्त्र्यभाव का प्रकटीकरण माना गया। एक समय ऐसा भी आया कि जब बालिका शिशुओं के नाम को नदियों के नाम पर रखने की मनाही की गयी लेकिन यह रुक न सका, और बाद में यह जारी रहा। यश, समृद्धि, स्वास्थ्य, दीर्घायु, अन्न, सौन्दर्य, प्रेम,

वंश—यह सभी सार्वभौमिक मूल्य स्त्रियों से सम्बन्धित माने गये हैं, या उन्हें देवियों के रूप में दिखाया जाता रहा है। विभिन्न संस्कृतियों में नदियों का स्त्री रूप देवी-प्रतिमा द्वारा अभिव्यक्ति किया जाता रहा है।[37] यहाँ तक कि नदियों का बहना कभी-कभी स्त्रियों की इच्छा पर निर्भर करता है। महाराष्ट्र के महाबलेश्वर के बारे में लिखते हुए अन फेल्डहाउस रेखांकित करती हैं कि जरूरत पड़ने पर स्त्री नदी को फिर से बहने के लिए कह सकती है। यहाँ स्त्री स्वयं नदी बन जाती है। अकाल और सुकाल, मृत्यु और जीवन, और नदियों का स्त्री होना, यह महाराष्ट्र में नदियों से सम्बन्धित लोकजीवन, धार्मिक व्यवहार तथा मौखिक परम्परा का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है।[38]

नदियों के साथ स्त्रियों का यह सम्बन्ध इतना गहन होता है कि उसे व्यक्त करने के लिए औपचारिक अवसरों की तलाश भी नहीं होती है। इसलिए वह लोकगीत, मुहावरों, तीज-त्योहारों के रूप में प्रकट होता रहता है। ऐसी जगहों पर जहाँ शास्त्र पहुँचने में सकुचाता है, व्याकरण और भाषा के नियमों में बँधा होता है वहाँ लोक मानस अपनी चातुरी (विजडम) के चलते आसानी से पहुँच जाता है। यह स्थानीय होते हुए भी अपने प्रसार में व्यापक होता है। यश, समृद्धि, आरोग्य, अन्न, सौन्दर्य, प्रेम और सन्तान जैसे ऐहिक मूल्य भारत की स्त्रियों से जुड़े हैं। लक्ष्मी और अन्नपूर्णा जैसी देवियाँ इसका प्रतिनिधित्व करती हैं। नदी के सन्दर्भ में यह मूल्य एक साथ देवी और स्त्री दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं।[39] पूर्वी उत्तर प्रदेश में नदियों के किनारे इसे लक्षित किया जा सकता है। गंगा के किनारे के निषादों पर निबन्धकार कुबेरनाथ राय ने 'निषाद बाँसुरी' जैसा ललित निबन्ध लिखा है। इसमें उन्होंने निषादों से बातचीत, उनकी जीवन शैली और विश्वास को शास्त्र, लोक और मानव विज्ञान के सन्दर्भ में परखने का प्रयास किया। इसमें उन्होंने सामान्य स्त्रियों, पुरुषों और निषाद समुदाय के मध्य गंगा नदी की उपस्थिति को रेखांकित किया है। उनके अध्ययन की एक विशेषता यह भी रही कि 1990 के दशक में, मण्डल

आन्दोलन के दौरान जब निषाद अस्मिता ने एक नया राजनीतिक रूप ग्रहण करना आरम्भ किया तो निषाद बुद्धिजीवियों द्वारा उनके इस निबन्ध को बार-बार उद्धृत किया जाने लगा, विशेषकर उस हिस्से को जहाँ उन्होंने कहा है कि भारतीय धरती के आदि-मालिक निषाद ही थे। भारतीय भाषाओं की मूल संज्ञाएँ, भारतीय कृषि के मूल और आदिम तरीके और भारतीय मन के आदिम संस्कार उन्हीं की देन हैं।[40] यह प्रकरण स्पष्ट करता है कि किस प्रकार लिखित साहित्य किसी समुदाय के अस्मिता निर्मिति में सहायक होता है, इसके साथ ही साथ वह लोक से सामग्री ग्रहण करता हुआ चलता है। लिखे जाने के बाद वह उसी लोक को पुनः वापस भी किया जाता रहता है। रामायण, महाभारत और रामचरितमानस सहित कई पाठों का विभिन्न समुदायों द्वारा समकालीन आभ्यन्तरीकरण इसी प्रकार किया गया है। यहाँ आकर 'लिखित' और 'मौखिक' की सीमा रेखाएँ धुँधली हो जाती हैं। मौखिक आख्यानों का अध्ययन करते समय हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। इसके कारण ऐसी बहुत सारी बातें जो शास्त्रों और महाकाव्यों में हैं, वह लोक में भी अक्षरशः पायी जा सकती हैं, कभी-कभार वे स्थानीय सन्दर्भों के अनुसार अपना रूप ग्रहण करती हैं। गैर-मुद्रित समाजों में यह सांस्कृतिक पहेली सतत रूप से चलती रहती है। गंगा के बारे में जो शास्त्रों में लिखा गया है, उसके जैसा, उससे मिलता-जुलता और स्थानीय सांस्कृतिक सन्दर्भों को अपने में समाहित किये हुए एक विशाल भण्डार पूर्वी उत्तर प्रदेश के अवधी-भोजपुरी क्षेत्र में मौजूद है।[41] यहाँ पर उसका पूरा विवरण देना उचित नहीं होगा बल्कि उसके झुकाव को प्रकट करना ही उचित होगा।

ऐसा ही एक लोकगीत पूर्वी उत्तर प्रदेश में प्रचलित है जिसे सामान्य तौर पर 'देवी गीत' कहा जाता है। यह देवी गीत मूलतः मौखिक साहित्य के भाग हैं जो अब मुद्रित और इलेक्ट्रानिक रूप में भी मिलते हैं। इन्हें आमतौर पर स्त्रियाँ आषाढ़-सावन (जून से अगस्त) के महीने में गाती हैं : देवी तले बहे गंगा, गंगा निर्मल पानी/

नहायें मेरी आदि शक्ति रानी। यह देवी गीत उत्तर प्रदेश के मिर्ज़ापुर जिले में स्थित विन्ध्याचल देवी की वन्दना में गाया जाता है। इस गीत का अर्थ है कि विन्ध्याचल पर्वत के नीचे से गंगा नदी बह रही हैं और उसमें विन्ध्याचल पर्वत पर रहने वाली देवी स्नान कर रही हैं।[42] इस गीत में एक स्त्री एक ही साथ एक पर्वत, एक नदी और एक देवी की वन्दना कर रही है। इस तरह के कई-कई परतों वाले गीत लोक में नदियों को उनके पूरे वातावरण में चित्रित करते हैं। नदी का स्वतन्त्र अस्तित्व होते हुए भी वह प्रकृति और मनुष्य के साथ सहभागी बनी रहती है। उसमें पशु-पक्षी सभी शामिल हो जाना चाहते हैं :

उड़ जा सुगनवा गंगा पार/ सोवाय आव देवी को।'ओ तोते गंगा के तट पर जाकर गंगा देवी को सुला दे।'

यह देवी गीत पूर्वी उत्तर प्रदेश में महिलाएँ गाती हैं। इसी अध्याय में आप 'गंगा पुजाई' के बारे में पढ़ रहे हैं। इसमें निःसन्तान दम्पति गंगा से सन्तान प्राप्ति की कामना करते हैं। इससे जुड़ा एक लोकगीत है : गंगा मैया दिहिन गंगादीन, बसी बा उजरी नगरी (गंगा माँ ने मुझे एक पुत्र प्रदान किया है जिसका नाम गंगादीन रखा गया है और मेरी उजड़ी हुई नगरी बस गयी है)।[43] शिशु के जन्म से जुड़ा एक महत्त्वपूर्ण लोकगीत 'सोहर'। पूर्वी उत्तर प्रदेश में गाया जाने वाला एक सोहर गीत इस प्रकार है :

गंगा-जमुना के बिचवा तिरिया एक अरज करे हो/ गंगा! अपनी लहर हमें देइतु कि तेहि चढ़ बुड़िती न हो।[44] इस सोहर में निःसन्तान स्त्री का दुख व्यक्त हुआ है जो इससे तंग होकर नदी में डूब जाना चाहती है। ऐसा ही एक लोकगीत और है जिसमें सन्तान की आकांक्षा रखने वाली एक स्त्री अपने सपने की बात कर रही है जिसमें गंगा, सरयू और त्रिवेणी का ज़िक्र है :

सूतल रहलीं अटरिया सपन एक देखींला हो/ गंगा त देखींला हलोरत, सरजू डफोरत हो/ सासु तिरबेनी पईठी नहात, त कोरवा

गजाधर हो/ गंगा त हईं तोर माई त बहिनी सरजू हईं हो/ तिरबेनी भउजी तोहारी त कोरवा भतीज लेले हो।[45]

इस गीत में स्त्री के गर्भवती होने का संकेत है जहाँ गंगा, सरयू और त्रिवेणी माँ, बहन और भाभी के प्रतीक के रूप में आती हैं। एक बारहमासी सोहर में माँ अपने अजन्मे शिशु से मनुहार करती है कि वह चैत के महीने में जन्म न ले, क्योंकि वह चैत रामनवमी को होने वाले स्नान में कैसे जा पाएगी: हे रतनारे होरिलवा चैति जिनि जनम्या/ हो मोरे ललना चैतहि के रामनवमी नहाये कैसे जावै।[46] हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि लोक मानस कोई समरूप संरचना नहीं है, वह भी तो समाज का हिस्सा है। समाज के अनुक्रम, बहिष्करण, भेदभाव और हिंसा वहाँ भी वैसे ही उपस्थित होते हैं, कभी-कभी तो वे बहुत तीक्ष्ण रूप में लोक मानस में दिखाई पड़ते हैं। जमींदार और हलवाहे, रानी और सामान्य स्त्री की कल्पनाओं में समानता नहीं मिलती है, और यदि कहीं मिल भी जाए तो उसकी भावभूमि भिन्न होगी। गंगा नदी की पूजा राजा दशरथ की रानी भी कर रही हैं, और एक निषाद स्त्री भी। दोनों के सन्दर्भ बिन्दु अलग हैं। एक की मनोकामना पूरी हो जाए तो शायद वह नदी के पास नहीं जाएगी, जबकि दूसरी स्त्री के जीवन में नदी शामिल है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि एक नदी के जीवन में जिस प्रकार निषाद स्त्री सम्मिलित होती है, उस प्रकार शायद एक रानी नहीं सम्मिलित है।[47] एक ऐसा ही लोकगीत है :

हे गंगा मैया ताहि तर ठाढ़ कौसिल्या रानी केवट क जगावेली हो
जहूँ मोरे गंगा मैया राम जनमिहै अयोध्या के मालिक हो
हे गंगा मैया सोनवे मढ़ाइब राउर घटवा त रुपिला क सीढ़िया
नु हो
हे गंगा मैया एही घाटे बजना बजाइब बजवा बजवाइब हो।

हे गंगा माँ, तुम्हारे तट पर खड़ी होकर मैं कौशल्या केवट को जगा रही हूँ। यदि अयोध्या के मालिक होने वाले राम जन्म लेते हैं तो मैं

तुम्हारे घाट और सीढ़ियाँ सोने से गढ़वा दूँगी। मैं इस घाट पर बाजे बजवाऊँगी।' यह लोकगीत उस सर्वप्रचलित आख्यान से भी भिन्न आख्यान है जिसमें कहा जाता है कि अयोध्या के राजकुमारों का जन्म पुत्रेष्टि यज्ञ से ही सम्भव हो पाया था। यहाँ रानी कौशल्या नदी से सन्तान माँग रही हैं। यह दिखाता है कि पुत्र की आशा के लिए जिस यज्ञ और शास्त्रीय विधानों की चर्चा की जाती है, उससे उलट जन सामान्य के लिए नदियाँ ज्यादा सुलभ रही हैं। जन सामान्य क्या, वह रानियों के लिए भी उतनी ही सुलभ रही हैं भले ही उनका सामाजिक आधार भिन्न रहा हो।

इस अध्ययन में हमने इस बात को लक्षित किया है कि निषाद समुदाय एक श्रमिक समुदाय है, स्त्री–पुरुष, बाल–वृद्ध सब शारीरिक श्रम करते हैं। सब सबका पेट पालते हैं लेकिन जिनकी भुजाओं में ज्यादा बल होता है, यानी नौजवान, उन्हें और भी ज्यादा मेहनत करनी होती है। पुरुष यदि नाव चलाता है तो महिला नदी के किनारे सब्जी उगाती है, थालों में पानी डालती है। मार्च से मई के बीच यह एक सामान्य दृश्य है जब गंगा के विस्तृत तट पर, धूप में निषाद स्त्रियाँ सब्जियाँ उगा रही होती हैं, उसे तोड़कर बाजार पहुँचा रही होती हैं। कई लोकगीत उनके श्रम और दैनिक संघर्षों की पुष्टि करते हैं। ऐसा ही एक लोकगीत एक निषाद पुरुष के बारे में है :

> थाकी नाहीं हथवा खिंचत पतवरवा/.../पेटवा कारन माई पेटवा में दउरी/ पेटवा कारन खेई भार—मेरे हाथ पतवार खींचते हुए थकते नहीं हैं क्योंकि यदि मेरे हाथ थक गये तो मैं कैसे अपनी जीविका चला पाऊँगा ? ...मैं अपने परिवार का पेट पालने के लिए तुम्हारे पेट (गंगा की जलधारा) में नाव चला रहा हूँ। इसी पेट के कारण, भार से लदी हुई यह नाव चला रहा हूँ।[48]

यह बिम्ब गर्भ और उसमें स्थित शिशु के बारे में भी है। यह निषाद और नदी के माता–पुत्र सम्बन्ध की सबसे बेहतर व्याख्या भी करता है। प्रायः यह माना जाता है कि सहजीवी सम्बन्ध केवल दो जीवित भौतिक इकाइयों में सम्भव है और एक नदी और मनुष्य के बीच भला यह कैसे सम्भव है ?49 यह गीत उसी सहजीवी

सम्बन्ध का प्रकटीकरण है जहाँ मनुष्य और नदी का सम्बन्ध अविभाज्य है। निषाद जनों द्वारा नाव चलाने को लेकर इतनी बेधक व्यंजना शायद ही किसी मानव विज्ञानी या इतिहासकार ने दर्ज़ की हो जितनी इस लोकगीत में दर्ज़ है। यह गीत इस किताब के शीर्षक को भी व्यंजित करने में सक्षम है। जैसा इस किताब में यह बार-बार बताने की कोशिश की गयी है कि नदियाँ, पर्वत, झील, समुद्र तट और रेगिस्तान विभिन्न समुदायों के लिए पवित्र स्थल हैं और उनसे उनके अस्तित्व में आने की कहानियाँ जुड़ी हैं। सिक्किम के लेपचा समुदाय के लिए रोंगयांग नदी न केवल पवित्र है बल्कि उनका मानना है उनके मरने के बाद उनकी आत्मा कंचनजंघा पर्वत की तलहटी में इसी नदी के द्वारा ले जायी जाती है।[50] इस आख्यान में मनुष्य, नदी और पर्वत एक ही सांस्कृतिक धरातल पर मौजूद हैं। इसी प्रकार निषाद जन अपने सुख-दुख में गंगा के साथ अपने सम्बन्धों को दोहराते हैं और उससे सहायता की माँग करते हैं :

कोई जे सोवेला रन बन/ कोई जे बेइलिया बने हो/ कोई जे सोवेला बलुआ क रेतवा/ त' तोहरे सरन धइले हो/ गंगा मैया/ राजा जे सोवेला रन बन/ रानी बेइलिया बने हो/ मलहा त' सोवेला बालू क रेतवा/ त' तोहरे सरन धइले हो।

इस गीत में निषाद प्रार्थना कर रहा है कि ओ माता, ओ गंगा मैया, तुम सोयी हो या जागी हो? जरा उठकर देखो, मेरी बोझी हुई नाव, मेरी 'बरधी' इस बालू के रेत में अटक गयी है। माँ, मैं तुम्हारी शरण में नित्य रहने वाला निषाद हूँ। तुम्हारा ही आश्रय पाकर मैं नदी में नाव चलाता हूँ। ओ माँ, राजा तो रणभूमि में शिविर में सोता है, रानी महँ-महँ सुवासित बेला—वन में सोती है, पर मैं दीन निषाद तुम्हारे तट की बालूमयी रेती पर सोता हूँ और तुम्हारे बल पर निर्भर रहता हूँ। आज मेरी नौका 'चोर बालू' में फँसी है और यह बालू नाग की तरह कुण्डली मारकर नाव को भीतर खींचता जा रहा है। माँ, मेरी नाव, नाव पर लदा सार्थ, सब तुम्हारी शरण में है।[51]

नदी अपने निषाद–शिशु की बात सुनकर भरमुँह अर्थात् मुक्तकण्ठ कलकल ध्वनि से आशीर्वाद देती है : 'ओ निषाद, जैसे मेरे जल को कोई काटकर दो टुकड़े नहीं कर सकता वैसे ही तू भी अखण्ड-अच्छेद्य है। और जब तक मैं हूँ, जब तक मेरी धारा है, तब तक तू भी वर्तमान है।'[52] जैसे 'मेरे जल को कोई काटकर दो टुकड़े नहीं कर सकता' इस वाक्य खण्ड को दुबारा पढ़िए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि नदी और निषाद समुदाय के आपसी सम्बन्ध की लोकछवियाँ कितनी चटख और सुपरिभाषित हैं। उपर्युक्त दोनों लोकगीतों के सन्दर्भ को एक साथ पढ़ें तो पाएँगे कि इन लोकगीतों में निषाद समुदाय का दैनन्दिन जीवन जिस प्रकार से चित्रित किया गया है, उसे किसी 'फ़ील्ड वर्क' में दर्ज़ करना कितना कठिन काम है लेकिन इस दौरान निषाद समुदाय के स्त्री–पुरुष बार–बार दावा करते हैं कि नदी उनकी माँ है, उन्हें उससे अलग नहीं किया जा सकता है। इस जीवन को इन गीतों के साथ समझा जा सकता है, उसके जुड़ाव को रेखांकित किया जा सकता है। यह रेखांकन वहाँ तक विस्तृत है जहाँ तक इस जीवन की महिमा है।

समुदाय के जीवन में नदी

निषाद नदी से अपने सम्बन्ध को कैसे देखते हैं? इस प्रश्न का उत्तर किसी 'अधिकृत पाठ' में नहीं बल्कि निषाद समुदाय की स्मृतियों में खोजा जा सकता है। हम यह तो नहीं कह सकते हैं कि वर्ष 2020 में किसी निषाद जन की स्मृति वही होगी जो सहस्राब्दियों पहले किसी संस्कृत पाठ में लिखा गया है लेकिन हम स्मृतियों में संरक्षित इतिहास के झुकाव की ओर संकेत तो कर ही सकते हैं। 'कहते हैं जब पृथु को राजा बनाने के बाद देश निकाला दिया गया तो वह शृंगवेरपुर में अपने ननिहाल में गया। और वही निषाद गुहराज कहलाया। इसी ने गंगा पार करने के लिए श्रीराम की सहायता की थी। जलवंशीय

केवट, कहार, गौड़, मछुआरा, भोई, धीवर, मल्लाह, कोली, कश्यप, धुरिया, बाथम, नदी-तालाबों के जल से ककड़ी, सिंघाड़ा उत्पादन करने वाली विविध जातियाँ, वन, उपवन में बसने वाली भील, शबर, नाग जैसी अनेक श्रम पारायण जातियों का वंशकर्ता यही निषाद है।'[53] ध्यातव्य है कि यह बात 2013 के अक्टूबर की निषाद ज्योति पत्रिका में कही जा रही है जिसे निषाद समुदाय का 'आंगिक साहित्य' कहा जा सकता है। इस लेख में लेखक ने रोमिला थापर को उद्धृत किया और उसके बाद उन बातों को लिखा है जो निषाद समुदाय में प्रचलित हैं। इस तरह से एक शास्त्रीय इतिहास लेखन से समुदाय की जातीय स्मृतियाँ गूँथ दी जाती हैं। यही बात कुबेरनाथ राय के निबन्ध निषाद बाँसुरी के साथ होती है। उसे निषाद समुदाय अपने आंगिक साहित्य में उद्धृत करते हुए अपनी बात और दावे में एक ऐतिहासिकता लाने का प्रयास करता है। 'इलाहाबाद से लेकर मिर्ज़ापुर होते हुए, बनारस और चन्दौली के निषादों के बीच शृंगवेरपुर में निषादराज गुह के ननिहाल वाली बात काफी प्रचलित है। इन आख्यानों में महाकाव्य, पुराण और आधुनिक इतिहासकारों के इतिहास आपस में घुल जाते हैं। इसका प्रमुख उद्देश्य तो अपनी सांस्कृतिक स्मृति की रक्षा करना है लेकिन नदी पर दावे के लिए या भविष्य की राजनीति बनाने के लिए निषाद समुदाय इसे एक 'सबलीकृत एजेण्ट' के रूप में प्रयुक्त करता है। इतिहास कमजोर समुदायों में शक्ति भरने के काम आता है, यह बात निषादों के जीवन में झाँकते हुए कोई इतिहासकार जरूर कह सकता है।

नदी पुत्र निषाद

इस किताब के बिल्कुल आरम्भ में यह बात कही गयी थी कि सामाजिक इतिहासकारों ने जमीन पर ज्यादा ध्यान दिया है और उनका दृष्टिकोण खेत में पैदा होने वाले अनाज और उससे उपजे राजस्व

पर ज्यादा रहा है। लेकिन नदियों के किनारे रहने वाले समुदाय अब नदी को ही अपना खेत मानने लगे हैं। वे उसे बचाये रखना चाहते हैं। उनके लिए गंगा की पवित्रता और उसका भौतिक अस्तित्व उनके जीवन के बचे रहने के लिए जरूरी है। इस नदी में मछलियाँ रहती हैं जिसे वे खाते हैं। इसी के किनारे वे थोड़ी-बहुत खेती भी करते हैं, वे इस नदी की वे पूजा करते हैं। वे कहते हैं कि हम नदी के बेटे हैं। सामान्य जनता का सन्देश वे ही नदी तक पहुँचा सकते हैं। 2017 में माघ मेले के दौरान एक नाविक ने कहा था कि सामान्य आदमी की केवल एक माँ होती है, हमारी दो माँएँ हैं। यदि आपको कोई सन्देश गंगा माँ तक पहुँचाना होगा तो आपको हमारी सहायता लेनी होगी।

> नदी ही हमारा खेत है। इसी से हमारा पेट भरता है। यदि यह खेत सूख गया तो हमारा पेट कौन भरेगा? लोग बाहर के शहरों को मेहनत-मजदूरी करने जाते हैं, वे पढ़ते-लिखते हैं और रोजी-रोटी कमाते हैं गंगाजी हमारे लिए दिल्ली-बम्बई है, वही हमें दो जून की रोटी देती है।

वास्तव में वह नौजवान निषाद उन दिनों की पुनर्सर्जना कर रहा था जब नदी से सबको कुछ न कुछ मिल जाता था। जैसा इस शोध में रेखांकित किया गया है कि 'नदी के पास अवसरों की कमी' हो गयी है। उसके किनारे जो अवसर सृजित भी हुए हैं, वे दूसरों के हाथ में चले गये हैं या उन पर कानूनी शिकंजा है, मसलन बालू का मसला।

गंगा नदी के किनारे एक संस्कार होता है, जिसे 'गंगा पुजाई' कहते हैं। विवाह के बाद नव दम्पति गंगा की आराधना और दर्शन करने आते हैं। इस अवसर पर 'आर-पार की माला' चढ़ायी जाती है। इसमें नदी के दोनों छोरों को गेंदे के फूल की एक लम्बी माला से जोड़ा जाता है। यह एक प्रकार से गंगा नदी का मानवीकरण होता है। गंगा को एक देवी मानकर उसे फूलों की माला पहनायी जाती है। इस काम में श्रद्धालु की नाविक मदद करता है। इसी प्रकार निःसन्तान दम्पति गंगा से सन्तान माँगने आते हैं। यदि उन्हें सन्तान की प्राप्ति हो

गयी तो वे पुनः गंगा का दर्शन करने आते हैं। कमर तक पानी में खड़ा होकर निषाद शिशु को गंगा का स्पर्श कराता है और शिशु के माता-पिता को वापस सौंप देता है, यह इस बात का प्रतीक होता है कि उस शिशु को गंगा को अर्पित कर दिया गया है एवं शिशु को 'गंगा माँ' ने दम्पति को वापस कर दिया है। इससे उसके दीर्घायु होने की आशा भी जुड़ी होती है। इस पूरे कर्मकाण्ड में निषाद गंगा नदी और श्रद्धालु के बीच एक माध्यम बनता है जिसके बिना यह पूरा नहीं किया जा सकता है। 2014 में एक निषाद सामुदायिक नेता ने मुझसे कहा था कि गंगा तक कोई सीधे नहीं पहुँच सकता है। बिना हमारी मदद के आपकी अर्जी उन तक ले कौन जाएगा? वे केवल अपने बेटों की सुनती हैं। हम उनके बेटे हैं।[54] यह वक्तव्य उन धर्मशास्त्रीय निबन्धों के उलट है जो तीर्थों पर विभिन्न कर्मकाण्डों में पुरोहित की उपस्थिति को आवश्यक मानते हैं। यहाँ निषाद गंगा और सामान्य जनता के बीच के किसी सम्पर्क को हटाकर उसके वास्तविक संरक्षक बनकर उभरते हैं। इम्तियाज अहमद की भाषा में कहें तो निषाद गंगा और शेष समाज के बीच पुल बनाने वाला समुदाय (ब्रिज कम्युनिटी) है।[55] गंगा नदी के किनारे पर यद्यपि पण्डे भी अपने को गंगा-पुत्र कहते हैं लेकिन निषाद जन इसे मान्यता नहीं देते हैं। उनका भी दावा निषादों के जैसा है लेकिन निषादों का कहना रहता है कि 'इतिहास पण्डों के साथ नहीं है।' यहाँ हम इतिहास को गवाही देते हुए देख सकते हैं, कम से कम मौखिक इतिहास से परिधीय समुदाय यह काम निकालते हैं। वे अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए इतिहास की मदद लेते हैं।

वास्तव में जिस तरह वनों में रहने वाले समुदायों के लिए वन किसी देवी-देवता/देवकुल का वास या स्वयं ही देवता का रूपक होता है, पहाड़ों पर रहने वाले समुदायों के पहाड़ ही खुद देवता होता है या उनके देवता/देवकुल का निवास स्थान होता है, उसी प्रकार निषाद

समुदाय के लिए नदी है। नदी के किनारे रहने वाले निषादों के जीवन की कल्पना में नदी के बिना पूरी नहीं हो सकती है, विशेषकर उनके जन्म-विवाह—मृत्यु या ऐसे ही महत्त्वपूर्ण क्षणों में। नदी को प्रसन्न करने के लिए वे उसे 'निशान' अर्पित करते हैं। निशान हरे बाँस की पताका होती है जिसे गंगा नदी के तट पर गाड़ दिया जाता है। स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध गाजे-बाजे के साथ नाचते-गाते हुए गंगा तट पर जाकर यह निशान चढ़ा आते हैं। इसे नदियों के किनारे रहने वाली सामान्य जनता भी करती है। निषादों के लिए एक महत्त्वपूर्ण वार्षिक उत्सव गंगा-दशहरा भी होता है। जनश्रुति है कि इसी दिन भागीरथ के तप से प्रसन्न होकर गंगा पृथ्वी पर आयी थीं। निषाद समुदाय इस घटना की स्मृति में यह त्योहार मनाता है। इस दिन घर के सभी लोग गंगा नदी से गंगाजल लाकर अपने घरों को पवित्र करते हैं और फिर उसमें अपने घर का जल मिलाकर फिर नदी को अर्पित कर देते हैं। यह जल-अनुष्ठान निषाद और गंगा नदी के आंगिक सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त है। घरेलू और सार्वजनिक दायरा इस कर्मकाण्ड में एक-दूसरे में मिल जाता है। जैसा पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोकगीत इंगित करते हैं और अभी हाल ही तक निषाद 'गंगा माँ' को प्रसन्न करने के लिए हंसों का एक जोड़ा चढ़ाते थे।[56] अब यह प्रथा बन्द हो गयी है क्योंकि यह कानूनन अपराध हो गया है और गंगा के किनारे का प्राणी-वर्ग भी संकट में है। इसके स्थान पर निषाद स्त्रियाँ और पुरुष नारियल का गोला चढ़ाते हैं।

सन्दर्भ

1. https://www.nationalheraldindia.com/india/nehrus-will-let-my-ashes-scatter-over-fields-and-mingle-with-the-dust-and-soil-of-india 27 मई 2020 को देखा गया।
2. अमृत, सुनील (2018)

3. डरोन, अस्सा (2013)
4. मिश्र, अनुपम (2019)
5. सेन, सुदीप्त (2019) : 43
6. ओस्तिगार्द, तेर्जे (2018)
7. गुहा, रणजीत 14–15 : (2009)
8. सिंह, रघुबीर का समर्पण पृष्ठ (1992)
9. मिश्र, अनुपम (2006)
10. पाण्डेय, सुधाकर (1983) में रुद्र काशिकेय की भूमिका से उद्धृत।
11. सेन, सुदीप्त (2019)
12. ऋग्वेद 10/75/5, ऋग्वेद, विश्वबन्धु आदि (1963), वीवीआरआई होशियारपुर; और भी देखिए भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश' (2016), वैदिक गंगा, गंगा अंक, गीता प्रेस, गोरखपुर : 153
13. काणे, पी.वी. (1992), तृतीय भाग : 1320
14. रामायण ऑफ़ वाल्मीकि, बालकाण्ड (1984), अनुवाद : रावर्ट पी. गोल्डमैन, इससे जिस एक बात का और पता चलता है, वह यह है कि 'गंगा के पृथ्वी पर आने की कथा' एक साहित्य रूप में प्रचलित थी जिसे लिखित और मौखिक रूप से सदियों से कहा जाता रहा है, जिसमें पर्याप्त वैभिन्न्य है।
15. सिंह, महेंद्र प्रताप (2016) : 136–37
16. शास्त्री, हरिप्रसाद (1962, अनु.) : 362
17. आधुनिक समय में गंगा की रक्षा के लिए सूँस एक प्रमुख जीव बनकर उभरी है जिसका अस्तित्व तभी बचेगा जब गंगा में स्वच्छ और अविरल जल रहेगा। गंगा के किनारे रहने वाले निषाद सूँस को पवित्र और सौभाग्यशाली मानते हैं। सूँस और गंगा नदी के सम्बन्ध के बारे में देखिए मैलेट, विक्टर : (2017); 135–114 पोलाक, शेल्डन (2007), परिचय एवं अनुवाद, द रामायण ऑफ़ वाल्मीकि एन एपिक : ऑफ़ एंशिएण्ट इण्डिया, वाल्यूम–2, अयोध्याकाण्ड, मोतीलाल

बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली, सर्ग 44, 3-2 मौर्य शासक अशोक के स्तम्भ लेख संख्या, सूँस का उल्लेख मिलता है।

18. राय, कुबरेनाथ 51 : (2019)

19. अग्रवाल, वासुदेव शरण (2001)

20. सुक्थंकर, वी.एस. (1992), महाभारत : द आरण्यक पर्व, भाग-1, 3,80 से लेकर 3, 93 तक

21. और भी देखिए, 38-3, 82, 35 गंगा के प्रवेश द्वार पर देव और गन्धर्व सेवा करते हैं (3,80,12)

22. शर्मा, राम शरण (2018) : 229; पुराणों में तीर्थ-व्रत और नदियों से सम्बन्धित यात्रा के लिए और भी देखिए : अग्रवाल, वासुदेव शरण (2010)

23. सुक्थंकर, वी.एस. (1992), महाभारत : आरण्यक पर्व।

24. शर्मा, राम शरण (2014) : 303-306

25. काणे, पी.वी. (1992), तृतीय भाग : 1321 पर उद्धृत।

26. पाठक, वी.एस. (1994) : 67

27. भवभूति का उत्तररामचरितम् (2014)। तीसरा और सातवाँ अंक विशेष तौर से देखें।

28. सेन, सुदीप्त (2019) : 345

29. सिय सुरसरिहुँ कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरबिउ मोरी।
पति देवर संग कुसल बहोरी। आइ करों जेहि पूजा तोरी।

30. तुलसीदास कृत रामचरितमानस, पृष्ठ 387-388, गीता प्रेस गोरखपुर, 107वाँ पुनर्मुद्रण, सटीक मंझला साइज।

31. गंगालहरी—पण्डित जगन्नाथ कृत (2007) : 23

32. ब्रायन्त, केनेथ (2015): 618

33. ब्रायन्त, केनेथ (2015): 755

34. सादिक़ (2018) : 57

35. गंगा लहरी—पद्माकर कृत में रुद्र काशिकेय की भूमिका।
36. चक्रवर्ती, दीपेश (2021)
37. फेल्डहॉउस, आन (2014)
38. फेल्डहॉउस, आन (2014) : 13
39. फेल्डहॉउस, आन आदि (2015)
40. राय, कुबेरनाथ (2019) : 50
41. 'समाज, संस्कृति एवं जीविका की निर्मिति : उत्तर भारत में नदियों और निषादों का सहजीवन' विषय पर भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में दिनांक 22 जुलाई से 24 जुलाई 2019 के बीच हुई राष्ट्रीय संगोष्ठी में खुशबू सिंह द्वारा प्रस्तुत किया गया परचा 'नदियों का लोक एवं लोक की नदियाँ : अवधी और भोजपुरी लोकगीतों में गंगा, यमुना और सरयू नदी'।
42. डोरोन, अस्सा आदि (2005) : 31
43. सिंह, विद्याविन्दु (2018) : 384।
44. मिश्र, विद्यानिवास (2005) : 56
45. मिश्र, विद्यानिवास (2005)
46. सिंह, विद्याविन्दु (2018) : 133
47. सिंह, खुशबू (2019)
48. तिवारी, रामनारायण (2013) : 26– 27
49. 28 नवम्बर 2018 को जब मैं भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में इस शोध परियोजना के पहले वर्ष के काम को प्रस्तुत कर रहा था तो बंगाल की एक इतिहासकार ने इस बात पर बेहद तीखी आपत्ति की कि भला कैसे एक नदी और मनुष्य में 'जीवित सम्बन्ध' हो सकता है ? लेकिन ऐसा कोई पहली बार नहीं था जब किसी ने नदी और मनुष्य के बीच किसी प्राणवान सम्बन्ध की कल्पना की हो। न्यूजीलैण्ड का माओरी समुदाय वहाँ बहने वाली वंघानुई नदी को जीवित इकाई मानता है। इससे प्रेरणा लेते हुए मार्च 2017 में

उत्तराखण्ड उच्च न्यायालय ने गंगा और यमुना नदियों को 'जीवित मानवीय इकाई' मानने पर जोर दिया। बाद में भारत के उच्चतम न्यायालय ने इस फैसले को पलट दिया। इससे इतना स्पष्ट है कि एक स्पष्ट कल्पना के रूप में नदियों के साथ मानवीय सम्बन्ध को नकारा नहीं जा सकता है। जैवमीमांसीय और दार्शनिक आधारों पर इस तर्क को कि नदियाँ जीवित इकाई हैं, समुदायों के जीवन में लक्षित किया जा सकता है। इसे पर्वतों और समुद्र तटों पर रहने वाले समुदाय भी मानते आए हैं।

50. http://vikalpsangam.org/article/speaking-river-speaking-rain/#.X-S|CdJKjIV 24 दिसम्बर 2020 को देखा गया।

51. राय, कुबेरनाथ, कुबेरनाथ राय का यह ग्रन्थ पहले ज्ञानपीठ से 49 : (2019) 1982 में प्रकाशित हुआ था जो एक समय बाद मुद्रण से बाहर हो गया था। इसे प्रतिश्रुति प्रकाशन कोलकाता ने फिर से छापा है।

52. राय, कुबेरनाथ (2019)

53. कहार (2013) भगवान दास

54. राजन मन्त्री का साक्षात्कार। राजन निषाद समुदाय के नेता हैं और उनके परिचित उन्हें 'राजन मन्त्री' के नाम से पुकारते हैं।

55. लाल, विनय (2019) : 66-67 पर उद्धृत।

56. राय, कुबेरनाथ (2019) : 41

समुदाय, संघर्ष और राजनीति

प्रस्तुत मुद्दे पर अभी कोई अन्तिम बात नहीं की जा सकती है क्योंकि अभी निषादों के जीवन सन्दर्भों को और भी व्यापक स्तर पर अध्ययन किये जाने की आवश्यकता है, और सबसे बढ़कर तो निषाद बुद्धिजीवियों की बात को मुख्यधारा के समाज विज्ञान में अभी ठीक से सुना जाना है। परिधीय तबकों पर जो शोध हो रहे हैं, उसमें अभी एक शक्ति-संरचना काम कर रही है जो पढ़े-लिखे लोगों, शोधकर्ताओं और राज्य के पक्ष में झुकी हुई है। यह तब तक समुदायों के पक्ष में नहीं जाएगी जब तक शोधकर्ता, राज्य और बृहत्तर समाज यह न मान लें नदियों के किनारे बसने वाले समुदायों की जीविका और भविष्य दाँव पर लगा हुआ है। यदि नदियाँ नष्ट हो गयीं तो इसके किनारे बसे सैकड़ों समुदायों का क्या होगा? निषाद जनों और उनकी संस्कृति, उसमें निहित राजनीतिक अर्थव्यवस्था का क्या होगा? देश का क्या होगा?

> हमारी नदी समाप्त हुई तो आप भी समाप्त हो जाएँगे। आप कहाँ पर तरने जाएँगे? आप अपने पुरखों की अस्थि कहाँ विसर्जित करेंगे? आपको पीने के लिए पानी कहाँ मिलेगा? यह देश इस नदी ने बचा रखा है।

गंगा नदी के बायें किनारे पर बसे नीवी गाँव की एक महिला और एक किशोर ने यह बात 2013 में मुझसे कही थी। मैंने उनसे पूछा

था कि इस नदी से आपका जीवन कैसे जुड़ा हुआ है ? इस बातचीत में महिला ने शायद उस सत्ता सम्बन्ध को रेखांकित कर लिया था जो 'प्रश्न पूछने वाले शोधकर्ता' और 'उत्तरदाता' के बीच मौजूद होता है। उन्होंने नदी के किनारे की दुनिया को उससे बाहर की दुनिया से जोड़ दिया था और यह चिन्ता जाहिर की किस प्रकार किसी समुदाय का भविष्य देश के अन्य समुदायों से जुड़ा है। उनके कहने का आशय यही था कि नदी जितना निषाद समुदाय के लिए आवश्यक है, उतना ही किसी अन्य व्यक्ति या समुदाय अथवा राष्ट्र के लिए जरूरी चीज है। यह चिन्ता उनके उस संवेगात्मक बुद्धिमत्ता (इमोशनल इंटेलिजेंस) से उपजी है जिसे निषाद समुदाय ने सदियों में अर्जित किया है। यह उनकी सांस्कृतिक और बौद्धिक उपलब्धि है जिसकी प्रशंसा की जानी बाकी है। इसके लिए 'समाजों की सहक्रिया' एकमात्र विकल्प है जहाँ एक समाज या समुदाय दूसरे समाज या समुदाय के ज्ञान को महत्त्व देता है। भारत के लिए दुखद तथ्य यह है कि इसमें जाति प्रथा अड़ंगा उत्पन्न करती है।[1] इस किताब में इस बात को ध्यान में रखते हुए जाति की गतिकी को कभी ओझल नहीं होने दिया गया है। भारत में श्रम और अमूर्त्त चिन्तन के बीच जो सीमा रेखा खींची गयी है, उसे नीवी गाँव की उस महिला के कथन में खण्डित होते देख सकते हैं लेकिन एक सामान्य बौद्धिक व्यवहार में इसे जब तक तोड़ा नहीं जाएगा और समुदायों के ज्ञान को सम्मान नहीं मिलेगा तब तक समस्याओं का वास्तविक निदान भी नहीं हो पाएगा। निषाद समुदाय भारतीय राष्ट्र राज्य से फ़रियाद, प्रतिरोध और आन्दोलन के माध्यम से अपनी बात कर रहा है। उसकी इस भाषा में निहित अर्थों पर विचार किया जाना बाकी है।

वास्तव में कोई भी संस्कृति अर्थ और प्रतीकों की एक सुव्यवस्थित संरचना ही तो है।[2] क्लिफर्ड ग्रीट्ज के इस कथन को थोड़ा और विस्तृत करने की आवश्यकता है। कोई शोधकर्ता किसी संस्कृति के अर्थों और प्रतीकों की विवेचना करता है। प्रतीक दैनन्दिन और

ऐतिहासिक स्तर पर समुदायों को सतत रूप से रचते रहते हैं। यह अर्थ और प्रतीक उनके लिखित एवं मौखिक अतीत से आते हैं, स्मृतियाँ उनको समय-समय पर पुनर्व्यवस्थित करती रहती हैं। यह पुनर्व्यवस्था ही समुदायों के जीवन को रूप देती है। एक अलग छोर पर बृहत्तर समाज में अर्थ और प्रतीक उसमें रहने वाले दूसरे समुदाय भी सृजित करते रहते हैं। इस प्रकार यह एक द्विमुखी रचनात्मक प्रक्रिया बन जाती है। अर्जुन अप्पादुरै तो यहाँ तक कहते हैं कि आकार और प्रसार में कितना ही छोटा समुदाय क्यों न हों, वह किसी स्थान और समय से जुड़कर नैतिक व्यवस्थाओं, जीवन दृष्टि और अपनी संस्कृति से परिचालित होता है।[3] यह बात उत्तर भारत की नदियों के किनारे बसे समुदायों के लिए भी कही जा सकती है। वे इससे अर्थों की एक गहन शृंखला एवं प्रतीकों की व्यवस्था से जुड़े रहे हैं। उन्होंने अपने जीवन और देश-काल-वातावरण में एक संगति सृजित करने का प्रयास ऐतिहासिक समयों से ही किया है। कभी-कभी वे इसमें कामयाब हो जाते हैं तो इतिहास के किन्हीं कालखण्डों में अपने समक्ष उपस्थित चुनौतियों का उत्तर देने में उतना सक्षम नहीं हो पाते हैं, जितना उस समय की ऐतिहासिक परिस्थितियाँ उनसे माँग कर रही थीं।

अपने बचे रहने के लिए उन्होंने नये-नये उपाय खोजे हैं और इसके साथ ही साथ अपनी जीवन रेखा नदियों को बचाने का भी प्रयास किया है। समुदाय द्वारा नदियों को बचाना इतना आसान काम नहीं है। इसे किसी कानून से नहीं बचाया जा सकता है और न ही स्वच्छ किया जा सकता है। यदि केवल कानून से नदियों को स्वच्छ होना होता तो पिछले पैंतीस वर्ष में गंगा नदी स्वच्छ हो चुकी होती। नदी को नष्ट करने और प्रदूषित करने में राज्य और समाज दोनों ही शामिल है लेकिन स्वच्छ करने में राज्य समाज से न तो सलाह लेता है और न ही उसे इस लायक समझता है कि नदी स्वच्छता की किसी योजना में समाज को शामिल किया जाए। नदियों के किनारे बसे समुदायों को शामिल करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। पर्यावरण संरक्षण

की अधिकांश सरकारी परियोजनाएँ स्थानीय समुदायों को अज्ञानी और आलसी मानती आयी हैं जबकि इस बात के प्रमाण हैं कि जब उन्हें इनमें शामिल किया गया है तो इसके बेहतर और स्थायी परिणाम सामने आए हैं।

प्रदूषण की सामाजिकी

जैसा समाज वैसा प्रदूषण। प्रदूषण का मामला कोई एकरैखिक मामला नहीं है बल्कि प्रत्येक समाज के साथ प्रदूषण का एक सामाजिक सन्दर्भ निहित रहता है। समाज के अलग-अलग तबक़े अलग-अलग तरह से पृथ्वी, पर्वतों, समुद्रों और नदियों को प्रदूषित करते हैं। जिस तरह से संयुक्त राज्य अमेरिका वैश्विक प्रदूषण के लिए जिम्मेदार है, उसी प्रकार भूटान नहीं जिम्मेदार है। प्रदूषण की धारणा को सामाजिक, जैव-शारीरिक और स्वास्थ्यगत आधारों पर समझा जा सकता है, वहीं उसकी भौतिक उपस्थिति के सांस्कृतिक आयाम हैं। इसलिए एक ही तरह के प्रदूषण के लिए समाज के अलग-अलग तबके अलग-अलग नज़रिया रखते हैं। वास्तव में नदी और बूचड़खाने, गलियाँ और फैक्ट्रियाँ, स्लम या सार्वजनिक स्थान, यह सभी हवा और पानी से एक अनुक्रिया करते हैं और हमारे सामाजिक बोध को परिवर्तित करते रहते हैं।[4] इस सामाजिक बोध को नदियों के साथ विभिन्न प्रकार के मनुष्यों से उनके सम्बन्धों के आधार पर समझा जा सकता है। यह मानी हुई बात है कि नदियों को प्रदूषित करने में जो योगदान शहरी भारत का है, वह ग्रामीण भारत का नहीं है। नदी के प्रति एक पर्यटक और उससे रोजी-रोटी चलाने वाले निषाद समुदाय के लोगों के बोध में अन्तर होता है। एक ग्रह के रूप में पृथ्वी पर मँडराते संकटों ने न केवल पर्यावरण विज्ञानियों और विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक ज्ञान रखने वाले विशेषज्ञों को चिन्ता में डाल रखा है बल्कि अब मानव विज्ञानी और इतिहासकार भी इन चुनौतियों से जूझ रहे हैं। उन्होंने

मानवीय महत्त्वाकांक्षाओं और संघर्ष को संसाधनों के सन्दर्भ में देखने का प्रयास किया है। वे रेखांकित कर रहे हैं कि किस प्रकार अलग-अलग समूहों में एक ग्रह के रूप में पृथ्वी अनुक्रिया करती है।[5] लोगों का भविष्य उनकी वर्तमान आवश्यकताओं और सत्ता-संरचनाओं से निर्धारित होने लगता है। इलाहाबाद में नवम्बर 2011 में राजन मन्त्री के साथ एक सामुदायिक चर्चा में यह बात सामने आयी कि—

> शहरी लोग गंगा नदी को दो बार प्रदूषित करते हैं। एक बार शहर में फैक्ट्री लगाकर, नालों में गन्दा पानी और मल-मूत्र बहाकर और दूसरी बार जब वे संगम पर स्नान करने आते हैं तो यहाँ फूल-माला और पानी तथा कोल्ड-ड्रिंक की बोतल फेंककर वे गंगा नदी को एक बार फिर प्रदूषित कर जाते हैं। उन्हें गन्दगी फैलाने के सिवा और जैसे कुछ आता ही न हो।

राजन की यह समझदारी उस संकट की अनुक्रिया से उपजी है जो नदियों के किनारे और उसके अन्दर बढ़ रहे प्रदूषण से नदीय समुदाय प्रतिदिन प्रकट कर रहे हैं। उनका यह मानना है कि प्रदूषण नदी को समाप्त कर देगा या उसे सांस्कृतिक रूप से निष्प्रयोज्य बना देगा। यदि ऐसा हुआ तो उससे उपजी बेकारी के वे सबसे पहले शिकार होंगे। इसी कारण निषाद गंगा नदी के किनारे और उसकी जलधारा में बढ़ रहे प्रदूषण से चिन्तित रहते हैं। कानपुर से चन्दौली के बीच निषाद समुदाय के सभी लोग इस बारे में एक निश्चित राय रखते हैं कि प्रदूषण उनके व्यक्तिगत और सामुदायिक जीवन के लिए खतरा है। वास्तव में आदिम मान्यताओं और अत्याधुनिक सुविधाभोगी शहरी मध्यवर्ग की नदी के प्रति नजरिये में कोई समानता नहीं खोजी जा सकती है। हम सब जानते हैं कि पौराणिक ग्रन्थों में नदियों एवं तीर्थ स्थलों के किनारे करणीय और अकरणीय कार्यों की सूची मिलती है। गंगा में शारीरिक द्रव्यों को नदी में बहाने की मनाही की गयी है। यहाँ तक कहा गया है कि गंगा को स्पर्श करने से पहले मनुष्य को चाहिए कि वह स्वयं स्वच्छ हो जाए।[6] निषाद समुदाय के लोग गंगा

को पवित्र मानते हुए उसमें दूसरे श्रद्धालुओं या पर्यटकों से भी इस बात की तस्दीक करते हैं कि वे नदी को दूषित न करें। वे नदी के जल की पवित्रता पर जोर देते हैं। जब मैंने एक बार एक नाविक से गंगा नदी में बढ़ते हुए प्रदूषण की ओर इशारा करते हुए पूछा कि नदी में केवल न थूकने भर से क्या होगा जबकि इसमें बड़े-बड़े नाले खुले हुए हैं? तो उन्होंने जवाब दिया :

> मामला नदी में थूकने या न थूकने भर का नहीं है बल्कि गंगा माँ के प्रति आदर भाव का है। लोग गंगा के प्रति आदर भाव नहीं रखते हैं इसलिए वे नदी में कुछ भी डालते रहते हैं। इसीलिए उन्होंने गंगा में बड़े-बड़े नाले खोल दिये हैं। यदि गंगा माँ के प्रति आदर भाव होता तो उनकी ऐसी दुर्दशा न होती।

इस आदर भाव को केवल धार्मिक दृष्टि से देखना ठीक बात नहीं होगी। प्रकृति पर बहुत ही सघनता से निर्भर समुदाय इस बात का खयाल रखते हैं कि उनकी जीवन पद्धति और नैतिक मूल्य उस वातावरण के विरोध में न जाएँ जिसमें वे जीवित रहना चाहते हैं। किसी नदी को स्वच्छ बनाये रखने के लिए शास्त्रों में जो प्रावधान विहित था, उनका निषाद समुदाय अभी तक पालन करता आया है लेकिन इसके साथ यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए कि इन करणीय और अकरणीय शास्त्रीय कार्यों का निर्देश निषाद समुदाय शास्त्र से नहीं ग्रहण करता आया है बल्कि उसने इसे अपनी जीवन शैली में ही इस प्रकार ढाल लिया है कि उसे अलग से ध्यान देने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इसके विपरीत समाज की मुख्यधारा पर ऐसा कोई नैतिक दवाब काम नहीं करता है। एक शताब्दी से ज्यादा समय हो गया है जब उसका नदी से सम्बन्ध टूट गया है। इसके कारण भी प्रदूषण बढ़ा है। यमुना नदी आज भारत की सबसे प्रदूषित नदियों में गिनी जा सकती है। एक समय वह प्रेम की नदी कही जाती थी और उसका पानी बहुत स्वच्छ हुआ करता था। दिखावे के लिए किये जाने कर्मकाण्ड चाहे जो भी हों लेकिन इतना तो निश्चित ही है

कि नदी, पारिस्थितिकी और धर्म के बीच जो रिश्ता हुआ करता था, वह समाप्तप्राय हो गया है।[7] नदी की सामाजिक भूमिका में समुदायों की सहभागिता खत्म हो रही है। मुख्य धारा का यही नैतिक बोध आगे चलकर कानून निर्माण प्रक्रियाओं में शामिल हो जाता है और नीतियों के निर्माण से नदीय समुदाय बाहर हो जाते हैं।

1982 में सेण्टर फॉर साइंस एण्ड एनवायरेनमेण्ट के अनिल अग्रवाल और उनके साथियों ने भारत में पर्यावरण पर जो पहली जन-रिपोर्ट प्रस्तुत की थी, उसमें गंगा नदी में बढ़ते प्रदूषण पर चिन्ता जतायी गयी थी। इसमें कहा गया था कि भारत की एक चौथाई जमीन को सिंचित क्षेत्र में लाने वाली गंगा नदी की वह क्षमता खोती जा रही है जिसके तहत वह खुद को स्वच्छ कर लेती थी। यह रिपोर्ट रेखांकित करती है कि खुद को स्वच्छ करने की गंगा नदी की यह क्षमता ही उसका जीवन बचाये रखती थी।[8] इस क्षमता और नदी की आन्तरिक गतिकी का नष्ट होते जाना चिन्ताजनक है। इस रिपोर्ट के प्रकाशन के समय जो चिन्ता जाहिर की गयी थी, वह चार दशक बाद बहुत गम्भीर होती गयी है और अब गंगा बहुत ही प्रदूषित हो गयी है।

कानपुर में गंगा का प्रदूषण स्तर चरम पर है और गंगा के किनारे बसे हुए नगरों का गंगा के प्रति कोई आदर भाव नहीं दिखता है जिसकी चर्चा एक निषाद समुदाय के व्यक्ति ने की थी। इस बीच गंगा की स्वच्छता एक राजनीतिक मुद्दा बना है और कई सरकारों ने इसके लिए कदम उठाये हैं लेकिन यह नाकाफी साबित हुआ है।[9] कानपुर में सरसैया घाट, भगवतदास घाट, गोला घाट, मैसकर घाट और दपकेश्वर घाट में गन्दे नाले गिर रहे हैं और जिन्होंने नदी में प्रदूषण का स्तर काफी बढ़ा दिया है।[10] नदी के तट पर खीरा-ककड़ी और तरबूज की खेती करने वाले एक परिवार की एक साठ वर्षीय महिला ने एक बार कहा था कि आज से तीस से चालीस वर्ष पहले गंगा का पानी इतना ज्यादा प्रदूषित नहीं था। नये-नये किस्म के कीड़े-मकोड़े अब दिखते हैं। इनको समाप्त करने के लिए दवा डालनी पड़ती है।

दवा महँगी आती है। पहले यह कीड़े-मकोड़े नहीं थे। इसके साथ ही हम लोगों को गर्मी के इस महीने में पैरों और हाथों में खुजली होने लगती है। यह इसी गन्दे पानी के कारण होता है। उन्होंने आगे कहा कि पहले गंगा नदी पर शहर के लोग आश्रित थे। वे इसे बहुत मानते थे। अब गंगाजी अपने बचने की भीख माँग रही हैं।[11] उधर गंगा नदी में गिरने वाले उस पानी का मामला काफी गम्भीर है जो चमड़े के कारखानों से नदी में आकर गिरता है।[12] धातुकर्म, डाई, डिस्टिलरीज, कॉटन और जूट-मिल, कागज उद्योग और केमिकल फ़र्टिलाइज़र जैसे उद्योग लगातार कानपुर और उसके आसपास गंगा और सहायक नदियों को प्रदूषित करते हैं। इसमें सबसे ज्यादा प्रदूषण चमड़ा शोधन शालाओं (टेनरी) से फैलता है। यह सतही जल और भूजल को बड़े पैमाने पर प्रदूषित करता है। इसका प्रभाव गंगा नदी के आसपास रहने वाले समुदायों के स्वास्थ्य पर तो पड़ता ही है, यह उन्हें आर्थिक क्षति पहुँचाता है। उत्तर प्रदेश प्रदूषण कण्ट्रोल बोर्ड के अनुसार पूरे कानपुर क्षेत्र में 400 से अधिक पंजीकृत और गैर-पंजीकृत धर्मशोधनशालाएँ हैं जो 20,306 मीट्रिक टन प्रदूषित जल प्रति वर्ष गंगा नदी में सीधे तौर पर छोड़ती हैं।[13] गंगा नदी में प्लास्टिक प्रदूषण कुछ ही महीनों में हजारों किलोमीटर की यात्रा तय कर सकता है, यह बात गंगा में छोड़े गये इलेक्ट्रॉनिक टैग वाले प्लास्टिक बोतल से पता चली है। शोधार्थियों ने यह निष्कर्ष जीपीएस और सेटलाइट टैग वाली प्लास्टिक बोतलों को गंगा और बंगाल की खाड़ी में छोड़ने के बाद पाया। इलेक्ट्रॉनिक टैग वाली बोतल ने अधिकतम दूरी 2854 किलोमीटर (1,786 मील) 94 दिनों में पूरी की।[14]

पर्वतों से निकलने वाली नदियों और मानसून ने दक्षिण एशिया के इतिहास और संस्कृति को गढ़ा है। लेकिन पिछली शताब्दी में तकनीक ने कम से कम नदियों से उसके इतिहास गढ़ने की शक्ति छीन लेने की कोशिश की है। अब नदियों का बहाव मौसम नहीं बल्कि इंजीनियर निर्धारित कर रहे हैं। इलाहाबाद में लगने वाले कुम्भ और माघ मेले में

सरकार के आदेश पर 'पानी छोड़ा' जाता है। नदी में स्नान करना अब सरकारों के रहमोकरम पर है। यह तो हुई श्रद्धालु जनता की दिक्कत क्योंकि अब उसकी मुक्ति 'राजकीय परियोजना' का एक हिस्सा बन गयी है। नदी के किनारे रहने वाले और नदी पर निर्भर समुदायों के लिए नदी का पानी ही जीवन है। उससे अलग उनका अस्तित्व नहीं है। यदि नदी सूखी तो उनके जीवन का सोता सूख जाएगा। विगत पृष्ठों में आपने पाया होगा कि यह अध्ययन परिधीय समुदायों के प्राकृतिक संसाधनों के साथ सम्बन्ध को व्याख्यायित करना चाहता था। अध्ययन के क्रम में ही यह अध्ययन उन दायरों एवं स्रोतों की ओर भी बढ़ता चला गया जिनकी आरम्भिक कल्पना इस शोध में नहीं की गयी थी। तीर्थ, जल, स्त्रियाँ और लोकमानस भी इसमें शामिल हुए तो नदियों की बृहत्तर समाज की सांस्कृतिक निर्मिति में भूमिका की स्पष्ट हुई।

पारिस्थितिकीय शरणार्थी, राज्य और समुदाय

यह अब स्थापित तथ्य है कि भारत को औपनिवेशिक शासन से आजादी मिलने वाले दशक में ही नदियों को उनकी 'संहारक शक्ति' के कारण उनकी औकात में लाने के तकनीकी प्रयास राज्य नियन्त्रित परियोजनाओं द्वारा आरम्भ किये गये। उन्हें 'ऊर्जा केन्द्रों' के रूप में बदलने की मुहिम शुरू हुई और नदियों को आधुनिकीकृत किया गया। उनपर जगह-जगह बाँध बनाये गये। इससे नदियों का प्रवाह और स्वाभाविक पारिस्थितिकीय वातावरण भंग एवं विचलित हुआ। वनस्पतियों एवं नदी आधारित प्राणियों के निवास स्थान संकट में पड़ते गये। इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक का आलम यह है कि 'बेअन्दाज पानी' को नियन्त्रित करने के लिए हिमालय क्षेत्र में लगभग चार हजार बाँध बना दिये गये हैं।[15] इन बाँधों से सबको न तो विकास मिल सकता है और न ही मुक्ति। वास्तव में तकनीक उन अर्थों में मुक्तिदायी नहीं

है जैसा उसके समर्थक कहते रहते हैं। तकनीक सबल को और ज्यादा सबल करती जाती है एवं निर्बल को सुभेद्यता एवं सीमान्त की ओर धकेल देती है। यह बात डी.आर. नागराज ने पहचान ली थी। इसके लिए वह 'टेक्नोसाइड' शब्द का इस्तेमाल करते हैं। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगिकीकरण ने पूरे के पूरे समुदायों को रोजी-रोजगार विहीन बनाकर उनका सामर्थ्य और सम्मान छीन लिया। हस्तशिल्पी, कारीगर और पेशेवर लोग बर्बाद होते गये। आजादी के बाद ऐसा कुछ नहीं हुआ कि इन समुदायों के सम्मान और रोजगार को बचाया जा सके।[16] कर्नाटक के दलितों और दस्तकारों के सन्दर्भ में बात करते हुए नागराज ने कहा कि दलित आन्दोलन को अपने साथ उन समुदायों की आवाज को भी उठाना चाहिए जिनका रोजगार तकनीक के कारण नष्ट हो गया। इसको लेकर एक 'सौन्दर्य शास्त्रीय उदासी' तो है लेकिन इसमें कोई सौन्दर्य नहीं है, विशेषकर तब जब जीवन और मृत्यु का सवाल हो। उन्होंने यहाँ तक कहा कि 'टेक्नोसाइड' के शिकार सभी लोग जाति और धर्म की सीमा लाँघ जाते हैं।[17] इसे हम थोड़ा सा स्थानबद्ध कर दें तो पाएँगे कि उत्तर भारत की परतदार जाति व्यवस्था में निषाद समुदाय 'टेक्नोसाइड' का शिकार हो गया। जैसा हमने बालू खनन और नदियों में क्रूज़ चलाने के सन्दर्भ में उनके विरोध को दर्ज किया है, वह बताता है कि वे इसी 'तकनीकी संहार' का विरोध कर रहे हैं और इसके साथ अपने सामर्थ्य और सम्मान की पुनर्बहाली चाहते हैं। यह राज्य के साथ समाज को भी करना पड़ेगा। अनुपम मिश्र ने तालाब बनाने वाले समुदायों के बारे में कहा है : जो तालाब बनाते थे, अपना पर्यावरण सँवारते थे, जानते थे, इनके कारण बाकी चीजें टिकती थीं। इसलिए हम उनको पहले इज़्ज़त वापस करें। इज़्ज़त आने के बाद वे संसाधन भी वापस ला सकते हैं।[18] इस प्रकार संसाधनों तक पहुँच का मामला कई सारे समुदायों की गरिमा लौटाने का सवाल बन जाता है।

आज के भारत में शिक्षा और तकनीक ने एकाएक कुछ सामाजिक

समूहों को बेशुमार ताकत प्रदान की है। अनियन्त्रित विकास ने संसाधनों को गरीबों के हाथ से छीनकर दबंग जातियों, शक्तिशाली लोगों और अपराधियों के हाथ में दे दिया। नदियों के किनारे और उससे सटे हुए दायरों में इसे देखा जा सकता है। इसने एक खास किस्म के पारिस्थितिकीय शरणार्थी समुदाय या इकोलॉजिकल रिफ्यूजी को जन्म दिया है। यहाँ पर मैं केवल गंगा नदी के किनारे के निषादों की बात कर रहा हूँ लेकिन लगभग सभी नदियों के किनारे के लोग वहाँ से दिल्ली, मुम्बई, शिमला, अम्बाला और बेंगलुरु काम की तलाश में जा रहे हैं। सियरा लियोन, सूडान और युगाण्डा से सम्बन्धित अपने काम में विभिन्न विद्वानों ने[19], पश्चिमी भारत से सम्बन्धित अपने अध्ययनों में सुमित गुहा और उत्तराखण्ड में चिपको आन्दोलन से सम्बन्धित अपने काम में शेखर पाठक ने दिखाया है कि पारिस्थितिकीय क्षरण, संसाधनों के बेमियादी प्रयोग और इन सबमें धन्नासेठों के प्रवेश ने कमजोर समूहों और महिलाओं को जबरदस्ती बाहर कर दिया है। उनकी जिन्दगी को बदतर बनाने में इनकी भूमिका रही है।

समुदाय, गोलबन्दी और राजनीति

विभिन्न समुदाय सत्ता के लिए संघर्ष को अपने पक्ष में करने के लिए, उसे अपने अनुकूल बनाने के लिए इतिहास और स्मृति का एक ही समय में सहारा लेते हैं। निषाद समुदाय के लिए महाभारत में वर्णित एकलव्य की कथा और बीसवीं शताब्दी में हुई फूलन देवी एक ही सामाजिक धरातल पर उपस्थित होकर उनका सबलीकरण करने लगते हैं। यह सबलीकरण एक सुनिश्चित राजनीतिक चेतना को जन्म देता है। जैसा हम जानते हैं निषाद समुदाय के पास एक लिखित इतिहास, मौखिक परम्परा और सामूहिक स्मृतियों का सांस्कृतिक भण्डार मौजूद है। यह उनके भविष्य के इमारत की कच्ची सामग्री है। अपनी हर बात में वे बताते हैं कि उनका एक राज्य हुआ करता था जिसका वर्णन

महाकाव्यों में है। निषादराज गुह इतने शक्तिशाली थे कि उन्होंने राजा राम की सहायता की थी। गौरव के इस आख्यान के साथ वे पीड़ा के आख्यान भी सुनाते हैं कि उनके प्रतिभाशाली नौजवान एकलव्य का अँगूठा काटा गया और फूलन देवी को उच्च जातीय लोगों के अत्याचार का सामना करना पड़ा। उनके इन आख्यानों में इतिहास और मिथक आपस में घुल-मिल जाता है और इससे एक बहुत ही सक्रिय 'राजनीतिक समाज' का निर्माण होता है। राजनीतिक समाज एक ऐसा समाज है जिसमें कमजोर तबके स्पर्धा और मोलभाव के द्वारा सत्ता से धीरे-धीरे अधिकार प्राप्त करने की कोशिश करते हैं।[20] निषादों के मामले में इस धीरे-धीरे की जगह अब एक रफ़्तार आ चुकी है। पार्थ चटर्जी ने राजनीतिक समाज की चर्चा उन शरणार्थियों के सन्दर्भ में की है जो कोलकाता और उसके उपनगरीय इलाकों में अपनी रिहाइश की तलाश में थे। इतिहास ने उन्हें बेदखल कर दिया था। निषाद एक भिन्न धरातल पर उपस्थित हैं। वे शरणार्थी एक विषम जातीय समूह होता है जबकि निषादों के मामले में सुपरिभाषित जातीय इतिहास मौजूद रहता है।

एकलव्य जैसे महाकाव्यात्मक युवक निषाद समुदाय की राजनीतिक प्रतीक योजना को इतिहास की प्राचीन सीमाओं की ओर ले जाते हैं तो उसके राजनीतिक कार्यकर्त्ता इसे भविष्य से जोड़ देते हैं। एकलव्य के अँगूठे को काट लिये जाने को बहुजन राजनीति एक सांस्कृतिक सदमे के रूप में याद करती है और भविष्य को अपने पक्ष में करने का प्रयास करती है। इसी प्रकार वे निषादराज गुह को एक गौरवशाली अतीत की विरासत के रूप में याद करते हैं जब वे एक बड़े इलाके के शासक हुआ करते थे। वर्तमान इलाहाबाद शहर में इन दोनों की मूर्तियों का अध्ययन रोचक हो सकता है। यह मूर्तियाँ निषादों के संघर्ष और उनकी राजनीतिक चेतना के निर्माण में प्रतीकात्मक महत्त्व रखती हैं कि किस प्रकार निषादों ने अपनी सांस्कृतिक सामग्री से अपनी राजनीति बनाने का प्रयास किया है।[21] इलाहाबाद शहर में

अलोपीबाग से सिविल लाइंस की ओर जाने वाले मार्ग की शुरुआत में ही निषादराज गुह की मूर्ति लगी है। यहाँ से गंगा नदी बहुत दूर नहीं है। इस मूर्ति का अनावरण 1 मई 2002 को हुआ था। मूर्ति के नीचे "भारत वर्ष के प्रथम इतिहास पुरुष निषादराज गुह" लिखा है। उत्तर प्रदेश लोकसेवा आयोग के सदस्य शीतला प्रसाद गोड़िया ने इस मूर्ति का अनावरण किया था। इसी तरह से इलाहाबाद शहर के एजी आफिस चौराहे पर एकलव्य की भव्य मूर्ति लगी है। 27 अप्रैल 1997 को उद्घाटित हुई एकलव्य की मूर्ति के नीचे संगमरमर की पट्टी पर "दानवीर महा धनुर्धर वीर एकलव्य" खुदा हुआ है। एक सुगठित युवक अपने पैरों को भूमि पर मजबूती से जमाये हुए अपने कान तक धनुष की प्रत्यंचा खींचे हुए है।

वर्ष 2021 के जुलाई महीने के अन्तिम सप्ताह में विकासशील इंसान पार्टी ने पूरे उत्तर प्रदेश में फूलन देवी की मूर्तियों की स्थापना करने के लिए अखबारों में पूरे पृष्ठ का विज्ञापन दिया था।[22] उत्तर प्रदेश सरकार ने इन मूर्तियों को स्थापित करने से रोका और कहा कि इसके लिए आवश्यक शासकीय मंजूरी नहीं ली गयी थी। फिर भी, इसके द्वारा विकासशील इंसान पार्टी यह सन्देश देने में कामयाब रही कि वह फूलन देवी की मूर्ति स्थापित करना चाह रही है लेकिन यह तो भाजपा की प्रदेश सरकार है जो हमें ऐसा नहीं करने देना चाह रही है। ध्यातव्य है कि विकासशील इंसान पार्टी बिहार में भाजपा को सहयोग करने वाली पार्टी है और इस समय वहाँ की सरकार में शामिल है। तो, इससे निष्कर्ष निकलता है कि फूलन देवी के व्यक्तित्व के आसपास निषाद समुदाय के विभिन्न दल और नेता अपनी राजनीतिक गोलबन्दी को आगे बढ़ाना चाहते हैं। याद कीजिए ऐसा ही 1950से 1980 के दशक में अम्बेडकर की मूर्तियों की स्थापना के समय हुआ था जब उत्तर प्रदेश के विभिन्न हिस्सों में उनकी मूर्तियाँ लगायी जा रही थीं। इसमें कभी सरकारों ने सहायता की तो कभी दूसरे समूहों ने इसके लिए विरोध जताया।[23] अम्बेडकर के साथ जहाँ 'संघर्ष, शिक्षा और

संगठन' की बात थी, फूलन देवी का व्यक्तित्व उसे आगे ले जाने की कोशिश करता है। कुछ जगहों पर, एक व्यापक समझदारी के तहत अम्बेडकर और फूलन देवी बहुजन सबलीकरण की परियोजना में साथ-साथ दिखने लगते हैं। ध्यातव्य है कि राष्ट्रीय निषाद संघ और निषादों के अन्य संगठन फूलन देवी की हत्या के बाद 25 जुलाई को उनकी पुण्यतिथि मनाते रहे हैं। मसलन, वर्ष 2007 में राष्ट्रीय निषाद संघ ने निषादों के विभिन्न संगठनों के नाम एक अपील जारी की कि वे इसे 'अन्याय विरोधी दिवस' के रूप में मनाएँ।[24]

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में फूलन देवी का उदय एक दस्यु सरगना के रूप में हुआ जिन्हें उच्च जातीय समूहों की हिंसा का शिकार होना पड़ा। लगभग एक दशक तक उनका प्रभाव क्षेत्र उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के विभिन्न इलाकों में कायम रहा। उन्होंने आत्म समर्पण किया और समाज की 'मुख्यधारा' में लौट आयीं। फूलन देवी को सपा ने अपनी पार्टी से टिकट दिया, वे चुनाव लड़ीं और दो बार सांसद चुनी गयीं। ऐसा नहीं है कि फूलन देवी पहली निषाद सांसद थीं लेकिन उनके सांसद बनने से निषाद जनों को प्रतिरोध की संस्कृति का व्यापक मूल्य पता चला। इसके पहले के निषाद सांसद भारत की विभिन्न जातियों में से एक जाति का प्रतिनिधित्व करते थे, उनमें से कई निषाद नेताओं ने पिछड़े और गरीब समुदायों की बेहतरी के लिए काम किया था, उनके लिए स्कूल-कॉलेज स्थापित किये थे। 'अखिल भारतीय लोधी निषाद बिन्द कश्यप एकता समता महासभा' के मनोहर लाल एडवोकेट ऐसे ही नेता थे। वे सांसद थे, उत्तर प्रदेश सरकार में मन्त्री भी रहे थे। उन्होंने निषाद समुदाय के उत्थान के लिए स्कूल-कॉलेजों की स्थापना की थी। इसी प्रकार विभिन्न निषाद नेताओं ने निषाद नायकों और प्रतीकों पर किताबें और लेख लिखे थे लेकिन फूलन देवी खुद एक प्रतीक बन गयीं, वह भी जीती-जागती। अपने जीवन काल में ही वे लोकप्रिय सांस्कृतिक रूपों में प्रकट होने लगीं। जैसा प्रसन्न कुमार चौधरी कहते हैं कि निरपेक्ष रूप से कोई

नायक नहीं, कोई खलनायक नहीं हो सकता। यह वस्तुगत स्थिति ही चीजों को उनके सापेक्ष दिक्-काल में देखने की दृष्टि प्रदान करती है।[25] निषाद समुदाय की सामाजिक वास्तविकता और भविष्य में हस्तक्षेप करने की आकांक्षा ने फूलन देवी को एक नायिका के रूप में स्थापित कर दिया है।

'वे हमारे लिए लक्ष्मीबाई और इन्दिरा गांधी की तरह थीं। उनके कारण नदियों के किनारे तरह-तरह के लोग हमसे बात करने के लिए आने लगे। वे न होतीं तो क्या आप मुझसे यहाँ नदी के किनारे मिलने आते? उनके कारण ही गाँवों, पुरवों और बीहड़ों में रहने वाले गरीब लोगों और मल्लाहों में ताकत आयी। अब हमें कोई धमका नहीं सकता है। कोई आँख नहीं दिखा सकता।'

अगस्त 2020 में चन्दौली के एक निषाद नवयुवक ने मुझसे यह बात कही थी। उस समय वह गंगा नदी में मछली मारने जा रहा था। उसने इण्टरमीडिएट तक की शिक्षा प्राप्त की थी। मैंने उससे पूछा कि क्या इससे आपकी आर्थिक दशा में भी कोई सुधार हुआ। उसने एक तल्ख आवाज़ में कहा कि 'सब कुछ पैसा ही नहीं होता है। इंसान को इज़्ज़त भी चाहिए।' वास्तव में मनुष्य की आदिम हसरत मनुष्यों के समूहों के बीच गरिमा की प्राप्ति है।[26] भारतीय समाज व्यवस्था में वर्ण, जाति और पेशा इसमें अवरोध उत्पन्न करते हैं। वे समाज के सबसे निचले पायदान पर रहने वाले समूहों को अवमानित करके उनकी गरिमा नष्ट कर देते हैं। वह निषाद युवक फूलन देवी के इसी प्रतीक के द्वारा अपनी गरिमा की पुनर्प्राप्ति कर रहा था। फूलन देवी के व्यक्तित्व को एक सबलीकृत प्रतीक में बदल जाने से निषाद जनों में सम्मान और सबलीकरण की भावना आयी है। सम्मान और सबलीकरण कमजोर समूहों को गोलबन्द होने में मदद करता है। जब वे गोलबन्द हो जाते हैं और सार्वजनिक स्थानों एवं राजनीतिक दायरों में दिखने लगते हैं।

उत्तर भारत की दलित राजनीति पर लिखते हुए बद्री नारायण कहते हैं कि इसने हाशिये पर पड़े कई समुदायों को आत्मविश्वास, सम्मान की भावना, राजनीतिक क्षमता और ताकत हासिल करने के लायक बनाया है।[27] यह बात निषाद समुदायों के लिए भी उसी प्रकार से सच है।

वास्तव में किसी समुदाय को दृश्यमान होने के लिए बहिष्करण और गौरव की गाथाएँ सन्दर्भ बिन्दु के रूप में काम करती हैं। इन गाथाओं को आगे बढ़ाने का काम उस समुदाय के बुद्धिजीवी करते हैं। एंतोनियो ग्राशी जिसे आंगिक बुद्धिजीवी (ऑर्गेनिक इंटेलेक्चुअल) कहते हैं[28], वह निषाद समुदाय में पिछले तीन-चार दशकों से बड़ी तेजी से उभर रहा है। यह निषाद बुद्धिजीवी एक ही साथ तीन काम कर रहा है : वह अपने समुदाय का इतिहास लिख रहा है, समुदाय के लोगों को संगठित कर रहा है और राजनीतिक शक्ति में भागीदारी के लिए चुनाव भी लड़ रहा है। रामायण में वर्णित निषादराज गुह, महाभारत के रचयिता वेद व्यास, वीर एकलव्य और फूलन देवी से वह सांस्कृतिक और राजनीतिक आत्मविश्वास हासिल कर रहा है। उसने आज़ादी की लड़ाई को अपने हिसाब से देखा है। इसमें अपने जातीय नायकों को रेखांकित किया है।[29] नाना साहब के साथ उन नाविकों की कहानी भी कही जा रही है जो 1857 में कानपुर में सक्रिय थे।

इसके अतिरिक्त बृहत्तर समाज से अपने रोजमर्रा के राजनीतिक मोलभाव में निषाद समुदाय इन प्रतीकों को आगे रखने के प्रयास में संलग्न है। उत्तर भारत में रहने वाले किसी भी निषाद बाल-वृद्ध से मिलिए तो वह इन प्रतीकों का इतिहास अपने तरीके से अवश्य बताता है। 1990 के बाद, निषाद अस्मिता और उनके प्रतीक पुरुष लगभग सभी राजनीतिक दलों के लिए अनिवार्य होते गये हैं। अब एक समुदाय के रूप में उपेक्षित नहीं किये जा सकते हैं। एक अनुमान के मुताबिक उत्तर प्रदेश की कुल 403 विधानसभा सीटों में 100 से 125 सीटों का परिणाम निषाद समुदाय तय करता है। उत्तर प्रदेश में

उनकी जनसंख्या 8 प्रतिशत से अधिक ही बतायी जाती है।[30] उत्तर प्रदेश की अस्सी लोकसभाओं में चन्दौली, राबर्ट्सगंज, मिर्ज़ापुर, भदोही, गोरखपुर, फ़ैज़ाबाद, सिद्धार्थनगर, बाँसगाँव लोकसभा को निषाद समुदाय जीतने की स्थिति में हैं। इसी तरह से लोधी, कश्यप को मिलाकर वे उन्नाव, फतेहपुर, हमीरपुर, फर्रुखाबाद, फिरोज़ाबाद, बुलन्दशहर, शाहजहाँपुर, पीलीभीत, बरेली, आँवला, अलीगढ़, एटा, इटावा, मैनपुरी, बहराइच और डुमरियागंज में वे एक प्रमुख चुनावी एवं सामाजिक ताकत हैं। गाजीपुर, बलिया, जौनपुर, लालगंज, देवरिया, मछलीशहर, अकबरपुर, रमाबाई नगर, इलाहाबाद, बाँदा, जालौन, कन्नौज, मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर, बागपत, मुरादाबाद, कैसरगंज, सुल्तानपुर, धौरहरा और रायबरेली में निषाद एक लाख पचास हजार से अधिक संख्या में हैं।[31] इस आँकड़े को कोई भी प्रश्नांकित कर सकता है कि आपको यह आँकड़ा कहाँ मिला जब जातिगत जनगणना हुई ही नहीं! निषाद समुदाय और उसके विभिन्न नेता भी जातिगत जनगणना की माँग कर रहे हैं। दरअसल, यह एक धुँधला क्षेत्र है जहाँ संख्या और गोलबन्दी दोनों मायने रखती है। यह आँकड़ा निषादों के आंगिक साहित्य से लिया गया है और इस पर विश्वास या अविश्वास की जगह इस आँकड़े के मोलभाव की उस क्षमता पर बात की जा सकती है जिसके कारण निषाद समुदाय आज एक ऐसी स्थिति में पहुँचा है जहाँ उनको कोई पार्टी उपेक्षित करने की हैसियत में नहीं है।

इस समय पूर्वी उत्तर प्रदेश में निषाद एक ऐसा समुदाय है जिसके नाम पर वर्ष 2016 से एक पार्टी 'निर्बल इण्डियन शोषित हमारा आम दल'-निषाद पार्टी—अस्तित्व में है और जिसके प्रतिनिधि संसद में हैं। यह पार्टी 2019 में गठित केन्द्र सरकार में भाजपा की सहयोगी पार्टी भी है। 2019 के लोकसभा चुनाव में इसने भाजपा की सोशल इंजीनियरिंग में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। इसके साथ ही

सपा के चुनावी समाजशास्त्र में निषादों की प्रभावकारी भूमिका थी। वे सपा के ठोस मतदाता माने जाते रहे हैं। 2014 के संसदीय चुनावों के दौरान भाजपा ने इसमें धक्का मार दिया और निषादों का एक बड़ा हिस्सा भाजपा के साथ हो गया। यह कोई अनायास नहीं था कि वर्ष 2014 के अप्रैल में इलाहाबाद में अपनी चुनावी रैली के समय प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी ने 'निषादराज' का कई बार उल्लेख किया था। निषाद उत्तर प्रदेश की राजनीति के नये खेवैया बनकर उभरे हैं।

इस परिघटना को एक 'राजनीतिक क्षण'—'पॉलिटिकल मोमेण्ट' में बदलने के लिए निषाद बुद्धिजीवियों ने बड़ी मेहनत की है। लौटनराम निषाद और अविनाश चौधरी ने निषाद अस्मिता पर खूब लिखा। लौटनराम निषाद ने अपने खर्चे और निषाद समुदाय के लोगों से चन्दा एकत्र करके 'निषाद ज्योति' पत्रिका निकाली जबकि अविनाश चौधरी ने 'निषाद समाज और भारतीय संस्कृति' शीर्षक से किताब लिखी और वे उसके स्वयं प्रकाशक भी हैं।[22] यह किताब उन किताबों से भिन्न है जो परम्परागत प्रकाशक प्रकाशित करते हैं लेकिन यह निषाद समुदाय के पढ़े-लिखे लोगों के बीच काफी लोकप्रिय है। वे इससे उद्धरण देते रहते हैं। लौटनराम निषाद ने 'निषाद ज्योति' का प्रकाशन 1998 से आरम्भ किया जो अभी भी निषादों से जुड़े शोधकर्ताओं के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस पत्रिका के माध्यम से निषादों की एक राष्ट्रीय गोलबन्दी, उनके मुद्दों, आरक्षण के मामले और राजनीतिक भागीदारी पर लगातार लेख छपते रहे हैं। यह पत्रिका पिछले दो दशकों में उत्तर भारत में हुई निषाद गोलबन्दी, विभिन्न राजनीतिक दलों की निषादों से जुड़े मुद्दों पर उनकी राय जानने की प्रामाणिक पत्रिका कही जा सकती है। इसमें एक तीसरा उदाहरण डॉ. संजय कुमार निषाद का है। पूर्वी उत्तर प्रदेश में निषादों की एक बड़ी संख्या और राजनीतिक प्रभाव को देखते हुए डॉ. संजय निषाद ने निषाद पार्टी के बैनर के तले निषादों को गोलबन्द किया है। इसके पहले वे निषादों की समस्याओं पर लगातार लिखते बोलते

रहे हैं। यहाँ तक कि एक समय उनकी नीतियों की निषाद ज्योति में आलोचना की भी गयी थी।[33] वर्ष 2017 के विधानसभा चुनाव में निषादों की प्रदेश की सत्ता में भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए उन्होंने कृष्णा पटेल के नेतृत्व में अपना दल और पीस पार्टी के साथ गठबन्धन भी किया। 60 उम्मीदवारों के साथ निषाद पार्टी ने अपना ध्यान पूर्वी उत्तर प्रदेश में केन्द्रित किया। उसकी मोलभाव की क्षमता इतनी अधिक बढ़ी कि वर्ष 2019 के लोकसभा चुनाव में उसने भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) से चुनावी गठजोड़ किया। बसपा के संस्थापक कांशीराम की तरह उन्होंने जाति आधारित गोलबन्दी की है, उनमें नयी जातियों को भी शामिल करने का प्रयास किया है जिससे निषाद पार्टी की ताकत बढ़ सके। निषाद पार्टी ने निषाद बहुल गाँवों में अपनी उपस्थिति लगातार बढ़ाने और संगठित करने का प्रयास किया है।[34] यह काम पूर्व विधायक राम कुमार भी 'अखिल भारतीय लोधी निषाद विन्द कश्यप एकता समता महासभा' के माध्यम से कर रहे हैं जिसमें लोधी समुदाय को भी शामिल किया गया है। ध्यातव्य है कि उत्तर प्रदेश के बुन्देलखण्ड इलाके में लोधी समुदाय सामाजिक और राजनीतिक रूप से काफी मुखर समुदाय है।

इस प्रकार उत्तर प्रदेश में कम से कम चार प्रकार के राजनीतिक अभिविन्यास निषाद समुदाय में लक्षित किये जा सकते हैं। काँग्रेस और भाजपा ने अपनी पार्टी की सामाजिक संरचना के अन्दर निषाद समुदायों को जगह दी है। उत्तर प्रदेश में काँग्रेस का पतन चतुर्दिक रूप में हुआ है, यह निषादों से उसके जुड़ाव में भी देखा जा सकता है। अपनी खोयी हुई जमीन को पाने के लिए उसने अभी हाल ही में अपने आपको निषादों के बीच स्थापित करने का प्रयास किया है। भाजपा ने निषादों के मामले में न केवल राजनीतिक गोलबन्दी का सहारा लिया है बल्कि उसने राम और निषादराज की सांस्कृतिक कल्पना द्वारा निषादों को जोड़ने का प्रयास किया है। जिस प्रकार से 2014 और 2019 के लोकसभा चुनाव और 2017 के विधानसभा चुनाव में उसकी सफलता

रही है, उससे कोई इस बात से इनकार नहीं कर सकता है कि उसने निषाद समुदाय के बीच अपनी स्वीकार्यता बढ़ाई है। दूसरे राजनीतिक अभिविन्यास में सपा और बसपा को शामिल किया जा सकता है। 'बहुजन राजनीति' की व्यापक राजनीतिक शब्दावली के अन्दर इन दोनों पार्टियों ने विधानसभा और लोकसभा चुनावों में इसका ध्यान रखा है। हालाँकि, 2007 से 2012 के बीच उत्तर प्रदेश की मायावती सरकार द्वारा निषादों को अनुसूचित जाति में शामिल करने के मामले में निषादों का एक बड़ा हिस्सा बसपा से नाराज भी हुआ था। तीसरा राजनीतिक अभिविन्यास निषाद पार्टी और विकासशील इंसान पार्टी का है जो मुख्य रूप से निषादों के वोट पर आधारित हैं। इनके बारे में पहले बताया जा चुका है। इसके अतिरिक्त एक चौथा एवं वैकल्पिक राजनीतिक अभिविन्यास भी है। इसे 'अखिल भारतीय किसान मजदूर सभा' के मामले से समझा जा सकता है। इसने निषाद समुदाय को बालू खनन के मामले में पट्टा दिलाने, मछली मारने और नाव चलाने के मामले में हक़दारी आन्दोलनों को आगे बढ़ाने के लिए काम किया है। यह इलाहाबाद, कौशाम्बी और आसपास के जिलों में सक्रिय है। इलाहाबाद की स्थानीय मीडिया इसे 'लाल सलाम' लिखकर सम्बोधित करती है।[35] इस संगठन ने अभूतपूर्व तरीके से निषाद महिलाओं को राजनीतिक मुद्दों और गोलबन्दियों से जोड़ने में सफलता प्राप्त की है। इस संगठन की बैठकों, धरना-प्रदर्शन और रैलियों में निषाद महिलाओं की व्यापक संख्या को 2010 से 2020 तक मैंने लगातार देखा है।

उपर्युक्त सभी मामलों में जाति आधारित पहचान, पेशे और उसका विस्तार, जीविका, लोकान्त्रिक संसाधनों के बँटवारे के प्रति एक बेचैनी देखी जा सकती है। मुख्यधारा की बड़ी पार्टियाँ जहाँ निषाद समुदाय को थोड़ी-बहुत जगह देते हुए उन्हें लुभाने का काम करती हैं वहीं इन पार्टियों में निषाद नेता अपने लिए, अपनी पार्टी और समुदाय के लिए मोलभाव करते हैं। निषादों के मुख्य वोट एवं पहचान

पर आधारित पार्टियाँ आरक्षण, जाति आधारित जनगणना, राजनीति, शिक्षा और सरकारी नौकरियों में आरक्षण का प्रतिशत निर्धारित करने के लिए लामबन्द होती रहती हैं। वैकल्पिक राजनीति करने वाली पार्टियाँ इसमें किसान और मजदूर के मुद्दों को साथ में रखकर इसे एक वर्गीय समझ के साथ आगे बढ़ाना चाहती हैं। उनका मानना है कि इन्हीं समुदायों से मजदूर भी आते हैं और उनकी समस्याएँ भी इसी के साथ सम्बोधित की जानी चाहिए। इन सब पार्टियों में शामिल निषाद नेताओं ने जिस एक खास बात की ओर जोर दिया है, वह है नदियों में बढ़ता हुआ प्रदूषण। हाँ, वे इसे जीविका के सवाल से जोड़कर देखते हैं कि प्रदूषण रोकने के लिए कोई ऐसे नियम न बनाये जाएँ जिससे निषाद समुदाय के पेट पर लात मारी जाने लगे।

सन्दर्भ

1. चौधरी, प्रसन्न कुमार (2015) : 211
2. ग्रीट्ज, क्लिफर्ड (1973) : 144
3. अप्पादुरै, अर्जुन (1997) : 180
4. शरण, अवधेन्द्र (2014)
5. चक्रवर्ती, दीपेश (2021) : 61–67
6. काणे, पी.वी. (1992), तृतीय भाग : 1319
7. हैबरमन, डेविड एल (2006) : 2–3
8. अग्रवाल, अनिल आदि (1982) : 23–27
9. स्टेट ऑफ़ इण्डिया'ज एनवायरेनमेण्ट (2020) : 202– 205
10. 22 जनवरी 2021 का हिन्दुस्तान, कानपुर, नगर संस्करण।
11. जनवरी 2019 में किया गया फ़ील्ड वर्क।
12. हसन, कमरुल (2017), इम्पैक्ट ऑफ़ लेदर इंडस्ट्रीज ऑन इनवायरेनमेण्ट : अ अस्टडी ऑफ़ कानपुर एण्ड उन्नाव डिस्ट्रिक्ट,

उत्तर प्रदेश, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद।

13. कुमार, विकास (2019), वाटर पोल्यूशन इन उत्तर प्रदेश : अ केस स्टडी ऑफ़ टेनरीज़ इन कानपुर, सेण्टर फॉर जवाहरलाल नेहरू स्टडीज, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नयी दिल्ली, अप्रकाशित एमफिल शोध प्रबन्ध।

14. https://www.downtoearth.org.in/hindistory/pollution/plastic/plastic-pollution-in-ganga-tag-bottles-up-to-2854-km-in-94-days-in-total-in-river-74526?fbclid=IwAR30ReKVtRIRcCziIyRqoD-bwPcj3Obgd5TCMMQ7Z5NCBaNviVvUPAcaQqc 4 दिसम्बर 2020 को देखा गया।

15. अमृत, सुनील (2018) : 144

16. नागराज, डी.आर. (2010) : 179

17. नागराज, डी.आर. (2010) : 180

18. मिश्र, अनुपम (2006) : 229

19. कोठारी, आशीष (2019)

20. चटर्जी, पार्थ (2004) : 74

21. सिंह, रमाशंकर (2017) : 255–80

22. दैनिक हिन्दुस्तान, कानपुर, संस्करण, दिनांक 25 जुलाई 2021

23. जोअल, निकोलस (2006) : 175–207

24. निषाद ज्योति (2007), अक्टूबर : 2

25. चौधरी, प्रसन्न कुमार (2015) : 299

26. गरिमा, न्याय और अवमानना के सवालों पर राठौर, आकाश सिंह (2021) में संकलित प्रमोद के नायर का लेख 'मार्जिनालिटी, सफ़रिंग, जस्टिस' : 151–69

27. नारायण, बद्री (2018)

28. ग्राम्शी, एंतोनियो (2012)
29. चौधरी, अविनाश (2008) : 68
30. 23 जुलाई 2019 को लौटनराम निषाद से शिमला में बातचीत।
31. निषाद ज्योति (2012), अप्रैल : 21
32. चौधरी, अविनाश (2008)
33. निषाद ज्योति (2013), अक्टूबर : 9–11
34. इण्डियन एक्सप्रेस (2017) : 6 मार्च, लखनऊ संस्करण।
35. दैनिक हिन्दुस्तान (2016) : 20 दिसम्बर, इलाहाबाद संस्करण।

उपसंहार

भविष्य के शोध

भारत के सामाजिक इतिहास लेखन में अभी बहुत कुछ लिखा जाना शेष है। उन समुदायों का इतिहास अभी तक सक्रिय और रचनात्मक रूप से नहीं लिखा गया है जो हाशिये पर हैं। ऐसा लगता है कि मानो वे सहस्राब्दियों से जिये जा रहे हैं और इतिहास निर्माण में उनकी कोई भूमिका ही न हो। यदि इसे रेखांकित करने का प्रयास भी होता है तो वह बहिष्करण और अपवंचना के आख्यानों से मुक्त नहीं हो पाता है। अधिकांश मामलों में वह इसी में फँसकर रह जाता है जबकि युग की परिचालक शक्तियों के निर्माण में इनकी भूमिका का रेखांकन किया जाना आवश्यक है। इस किताब में यह कोशिश की गयी है। इन समुदायों से सम्बन्धित विषय का शोध संस्कृत, पाली-प्राकृत और अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य की सहायता से किया जाना है जिसमें परिधीय समुदायों के जीवन को उसके दैनन्दिन अनुभवों के साथ लिखा जाए। उन बिन्दुओं पर शोध किये जाने की आवश्यकता है जिन्होंने परिधीय समुदायों को सामाजिक, आर्थिक रूप से सुभेद्य (वल्नरेबल) बनाया, इसे बढ़ावा दिया। ऐसे समुदाय अपनी कहानी कहना चाहते हैं। अभी तक वे अपने 'आत्म इतिहास" की तलाश में थे, अब वे अपने लिए एक राजनीतिक दायरे का भी निर्माण करना चाह रहे हैं।

प्रस्तुत शोध में यह ध्यान रखा गया है कि निषाद समुदाय के अन्दर जो आधारभूत बदलाव हो रहे हैं, उन्हें दर्ज़ किया जाए। मैं एक बार फिर से ग्राम्शी को उद्धृत करना चाह रहा हूँ। अपने बेटे को जेल से लिखे एक पत्र में ग्राम्शी ने इतिहास की उपयोगिता के बारे में बताया है कि यह जीवित लोगों के बारे में बताता है, और वह सबकुछ जिससे लोगों का साबका पड़ता है, वे समाज में एकजुट होते हैं, काम करते हैं, संघर्ष करते हैं और एक बेहतर ज़िन्दगी के लिए दाँव लगाते हैं।[2] यह किसी इतिहासकार के लिए भी यह एक सलाह ही है कि वह देखे कि लोग एक 'बेहतर ज़िन्दगी के लिए किस प्रकार दाँव' लगाते हैं और इसमें कहाँ तक सफल हो पाते हैं और यदि वे असफल होते हैं तो इसके क्या कारण हो सकते हैं? गंगा नदी के किनारे नितान्त विपरीत परिस्थितियों में निषाद समुदाय के लोग एक बेहतर ज़िन्दगी के लिए रोज दाँव लगाते हैं। वे राज्य और मुख्यधारा के वर्चस्वशाली समाज से अपनी बेहतरी के लिए संघर्ष और मोलभाव कर रहे हैं।

इस किताब में इस बात को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है कि ऐतिहासिक और वर्तमान समय में गंगा और उसके जैसी प्रत्येक छोटी और बड़ी नदी के किनारे बसे समुदाय इतने आत्मनिर्भर रहे हैं जिसमें उनका जीवन तो चल ही जाता था, वे 'देश' और 'राज्य' के लिए धन और समृद्धि का उत्पादन भी करते थे। इससे भी महत्त्वपूर्ण तथ्य और उनका योगदान यह है कि वे समाज के अन्दरूनी और बृहत्तर मूल्यों का निर्माण करते थे। नदियों से गहन जुड़ाव के साथ निषाद समुदाय शेष समाज को न केवल नदी से जोड़ता रहा है बल्कि उसने नदियों से सम्बन्धित मूल्य और जीवन-बोध को शेष समाज को हस्तान्तरित भी किया है। अर्थशास्त्र, अमरकोश, रामायण और महाभारत, कुछ श्रेष्ठ कवियों की रचनाएँ तो यही प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। आमतौर पर माना जाता है कि समाज के मूल्य उच्च वर्ग ही निर्धारित करता है। इतिहास इसकी गवाही नहीं देता है। नदियों के किनारे रहने वाले निषादों के जीवन का एक गहन विश्लेषण

दिखाता है कि वह परिधि पर होने के बावजूद नदियों के प्रति समाज के केन्द्रीय मूल्यों का निर्धारण करता है। इसे आधुनिक समय में भी देखा जा सकता है जब राज्य, तकनीक, लालच और जन-समुदाय की अ-श्रद्धा ने नदियों को 'वाटर मशीन'[3] में बदल दिया है, नियम, क़ानून और दबंगई के बल पर गंगा सहित भारत की नदियों की पारिस्थितिकी नष्ट की जा रही है, तब भी वे नदियों और जल से जुड़े मूल्यों के सांस्कृतिक और पारिस्थितिकीय संरक्षक बनकर उभरे हैं।

इस अध्ययन में जब इस तथ्य को रेखांकित किया जा रहा था तो यह बात ध्यान में रखी गयी है कि यह शोध भविष्य के सामाजिक मूल्यों एवं प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता को बचाये रखने की कोई कोशिश करे। एक शोध परियोजना अकादमिक रूप से तो यह दावा कर सकती है लेकिन किसी पर्वत, नदी, रेगिस्तान या समुद्र तट को बचाने का काम तो उससे जुड़ा हुआ समुदाय ही कर सकता है। वह उसको सबसे बेहतर तरीके से जानता है। सरकार और विद्वत समाज को उसपर न केवल भरोसा करना चाहिए बल्कि उसे भरोसे में लेकर ही कोई कदम आगे बढ़ाना चाहिए। विद्वत समाज अपनी सैद्धान्तिकी को विकसित करते समय मनुष्यों को ध्यान में रखे न कि वह सरकारों की योजनाओं की मध्यावधि समीक्षा करने लगे। हालाँकि गरीबी उन्मूलन, असमानता में कमी लाने के प्रयासों में इस तरह के शोधों की भूमिका होती है लेकिन समुदाय को 'सरकारी नजरिये' से हमेशा देखना नुकसानदायक हो सकता है। सरकार और प्राकृतिक भू-दृश्य को समुदाय के नजरिये से देखने पर सरकार और समुदाय दोनों फायदे में रह सकते हैं। समुदाय आधारित संरक्षण की पहलें राज्य और समुदाय दोनों के लिए हितकारी होती हैं। इधर हाल के वर्षों में जल को मानवाधिकार के रूप में श्रेणीबद्ध किया जा रहा है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि यदि स्वच्छ जल तक लोगों की पहुँच नहीं होगी तो उनका जीवन संकट में पड़ जाएगा।[4] इसलिए जल की स्वच्छता को बनाये रखने के लिए समुदाय की भागीदरी आवश्यक है।[5] नदियों

के जल की स्वच्छता को बनाये रखने की किसी पहल में निषाद समुदाय को जरूर शामिल किया जाना चाहिए लेकिन जैसा अब तक का भारतीय अनुभव बताता है, उनसे इस मामले में बात तक नहीं की गयी है। जहाँ नीति-निर्माण और उसके क्रियान्वयन में समुदायों को शामिल किया गया है, वहाँ बेहतर परिणाम सामने आए हैं। अफ्रीका और एशिया के गरीब एवं पिछड़े इलाकों का अनुभव तो यही बताता है। तंजानिया से सम्बन्धित अपने अध्ययनों में विद्वानों ने दिखाया है कि जब समुदायों को प्रकृति संरक्षण की योजनाओं में सम्मिलित किया जाता है और उनसे नीति निर्माण और कार्यान्वयन में सलाह ली जाती है, उनकी शंकाओं को सम्बोधित किया जाता है तो उसके बेहतर परिणाम हासिल होते हैं।[6] उत्तर भारत की विभिन्न नदियों की संरक्षण योजनाओं में इसके किनारे रहने वाले निषाद समुदाय को इसमें सम्मिलित किया जाना चाहिए। नदियों को संरक्षित करने की भविष्य की किसी परियोजना में इस समुदाय के लोगों को शामिल करने से इन योजनाओं की विश्वसनीयता और सफल होने की दर बढ़ सकती है। इसे जल एवं नदी संरक्षण योजनाओं के आलोक में समझा जा सकता है। नदी संरक्षण की योजनाओं में समुदायों की भागीदारी के बारे में उस तरह से नहीं सोचा गया है जिस तरह से वन संरक्षण योजनाओं में समुदायों को शामिल करने के प्रयास होते रहे हैं। यहाँ मैं इलाहाबाद में गंगा नदी के किनारे बसे एक निषाद गोताखोर की बात साझा करना चाहता हूँ। उन्होंने मुझसे कहा :

> आप लोग केवल नदी की ऊपरी धारा देख सकते हैं, अधिक से अधिक उसकी चौड़ाई बता सकते हैं लेकिन नदी का तल, उसकी गहराई, उसके 'पेट की बनावट' तो हम ही जानते हैं। कोई पढ़ा-लिखा आदमी क्या नदी की अन्दरूनी बनावट को जान पाता है?

यह केवल नदी को देखने भर का प्रश्न नहीं है बल्कि समुदायों के उनके परिवेश से रिश्ते की विवेचना का भी प्रश्न बन जाता है। कहने

के लिए तो यह कहा जा सकता है कि आधुनिक मशीनें यह सच क्षण मात्र में बता सकती हैं कि नदी के तल का 'टेरेन' कैसा है लेकिन बात उस निषाद गोताखोर के ज्ञान को सम्मान और उसके नदी से जुड़ाव को महत्त्व देने की है। और उसे सम्मान तो चाहिए ही, इससे ज्यादा जरूरी बात यह है कि उसे रोजगार और देश की समृद्धि में हिस्सा चाहिए। केवल सम्मानसूचक शब्द इस्तेमाल कर देने भर से समुदायों की ज़िन्दगी नहीं बदल जाया करती है बल्कि उन्हें शासन और निर्णय लेने में भागीदारी भी चाहिए। गंगा सहित नदी संरक्षण की तमाम योजनाओं के ढाँचे के अन्दर यदि इन्हें शामिल किया जा सके, तो यह नदियों और उसके बेटों के लिए सुन्दर बात होगी।

एक ऐसे अकादमिक वातावरण में जब भारतीय समाज की प्रत्येक असंगति के लिए 'कालोनियल' को उत्तरदायी ठहराकर उससे पीछा छुड़ा लेने की प्रवृत्ति जोर पकड़ती गयी है, और इससे भी अधिक पूर्व औपनिवेशिक अतीत को या तो कलंकित या पूर्णतः स्वर्णिम चित्रित करने की तात्कालिक प्रवृत्ति का विस्तार होता गया है, पाठ आधारित एवं समाज आधारित विश्लेषण कम होते गये हैं तो हमें एक बार फिर संस्कृत सहित भारतीय भाषाओं में उपलब्ध सामाजिक बोध और नैतिक व्यवस्थाओं के आशयों का विश्लेषण करने की आवश्यकता है। किसी भी अकादमिक प्रस्तुतीकरण या लेखन में 'इसमें थ्योरी कहाँ है' का प्रश्न पूछने वालों को यह उत्तर देने का समय है कि भारत 'पश्चिम की अकादमिक छवि और उसके द्वारा प्रदत्त श्रेणियों की फोटोकॉपी' नहीं बन सकता है बल्कि उसे पश्चिम की ज्ञानमीमांसा से मुठभेड़ करते हुए अपनी समझ को विस्तृत करना होगा। समाज के सभी जीवित और स्थूल लेकिन सदैव परिवर्तनीय तत्त्वों की पड़ताल करते हुए उसमें निहित मानवीय कष्टों, दिक्कतों, परेशानियों और उल्लास को दर्ज़ करने के लिए शास्त्रीय पाठों और मानवीय अनुभवों की पड़ताल आवश्यक है। हमारे समाज और उसके विभिन्न समुदायों की आन्तरिक और बाहरी संरचना में

व्याप्त हिंसा, अस्पृश्यता, बहिष्करण और उच्चताक्रम की परतों की पड़ताल किये बिना एक समावेशी, करुणा एवं न्याय से युक्त समाज नहीं बन पाएगा। यदि हम एक बेहतर समाज बनाना चाहते हैं तो उसकी दिक्कतों के साथ राज्य की संरचना से उपजे उन तनावों की भी पड़ताल करनी होगी जिनसे परिधीय समाजों का जीवन संकट में पड़ जाता है और इसके बाद यह विस्तृत होता हुआ निषाद, मछली और मगरमच्छ को भी निगल जाता है।

पाठ आधारित, समाज आधारित और अभिलेखागार आधारित इतिहास लेखन जैसे अलग-अलग पटरियों पर दौड़ रहे हैं। इन्हें एक रस्सी की संरचना में बदल दिया जाना है जहाँ सब एक-दूसरे से अलग नहीं हैं बल्कि सब सबको मजबूत बनाते हैं। ऐसा करते हुए हम पाठ और वास्तविकता (टेक्स्ट एण्ड रियालिटी) में न केवल अन्तर कर पाएँगे बल्कि यह भी जान सकेंगे कि वह कौन सा बिन्दु है जहाँ पाठ और वास्तविकता एक-दूसरे का विरोध करते हैं, और किस प्रकार एक-दूसरे के पूरक भी बन जाते हैं। हमें यह भी देखने की जरूरत है मानवीय जीवन की वास्तविकता पाठ से बाहर निकलकर कैसे पाठ को अतिक्रमित कर देती है। प्रसन्न कुमार चौधरी इसे ज्ञान की समीक्षा का प्रयास कहते हैं।[7] एक ऐसा समय आता है जब मानव जीवन की वास्तविकताएँ ही पाठ को पुनर्निर्मित करने लगती हैं।

आज इतिहास सहित समाज विज्ञान के सभी विषय एक-दूसरे के करीब आ रहे हैं। इसका एक कारण तो यह है कि विषयों की परम्परागत दीवारें टूट रही हैं और किसी एक विषय से मनुष्य के जीवन की जटिल वास्तविकताएँ नहीं समझी जा सकती हैं। पहले की समस्याएँ मौजूद थी हीं, कुछ नयी आ गयी हैं। पहले नदी को बचाना चिन्ता की बात थी, अब तो यह हो गया है कि यदि नदी ही सूख गयी तो क्या होगा? गरीबी के खात्मे के लिए 'विकास की समुदाय आधारित' योजनाओं की माँग हो रही है क्योंकि बिजली, सिंचाई और अन्य बहुद्देशयीय योजनाओं के कारण नदियों पर जो

बाँध बने, उन्होंने बेघरी, बेदखली और गरीबी को और भी बढ़ा दिया। जो समुदाय इसकी जद में आए, वे आज भी भारतीय राज्य से संघर्षरत हैं।

सन्दर्भ

1. नारायण, बद्री (2006)
2. featuresreviews.guardianreview25?fbclid=IwAR23Xx-0On0vlYwdsvEGmX8IRb3hhD2P3h1S4D4s41xMcJ7O-e2MpGJu5UafE दिनांक को देखा गया 2019 सितम्बर 15
3. एशियावत्ती, एन्थोनी (2015)
4. क्युलेट, फिलिप (2010)
5. लाहिरी-दत्ता, कुन्तल और राबर्ट जे. वाटसन (2008)
6. जे., ग्रेटा इमैनुएल और इवियन रोज्क्राफ्ट (2010) : 23-25
7. चौधरी, प्रसन्न कुमार (2015)

सन्दर्भ सूची

उत्तर प्रदेश राज्य अभिलेखागार, लखनऊ की फ़ाइलें

फ़ाइल नम्बर 408, बॉक्स नम्बर 25, होम पुलिस डिपार्टमेण्ट।

फ़ाइल नम्बर 409, बॉक्स नम्बर 25, होम पुलिस डिपार्टमेण्ट।

फ़ाइल नम्बर 407, बॉक्स नम्बर 25, होम पुलिस डिपार्टमेण्ट 1910 वर्ष।

फ़ाइल नम्बर 28, बॉक्स नम्बर 294, जनरल एडमिनिस्ट्रेशन डिपार्टमेण्ट, वर्ष 1913

फ़ाइल नम्बर 6, बण्डल नम्बर 129, जनरल एडमिनिस्ट्रेशन डिपार्टमेण्ट, वर्ष 1889

फ़ाइल नम्बर 14, बण्डल नम्बर 129, जनरल एडमिनिस्ट्रेशन डिपार्टमेण्ट, वर्ष 1939

फ़ाइल नम्बर 129, बण्डल नम्बर 6, डिपार्टमेण्ट मिसलेनियस, वर्ष 1889

फ़ाइल नम्बर 447, बॉक्स नम्बर 549, जनरल एडमिनिस्ट्रेशन डिपार्टमेण्ट, वर्ष 1937

फ़ाइल नम्बर 188, बॉक्स नम्बर 200, वर्ष 1909, जनरल एडमिनिस्ट्रेशन डिपार्टमेण्ट, वर्ष 1937

क्षेत्रीय अभिलेखागार, प्रयागराज की फ़ाइलें (पोस्ट म्यूटिनी रिकॉर्ड्स)

नक्शा, बॉक्स नम्बर 401, फ़ाइल नम्बर 129

फ़ाइल नम्बर 222, बॉक्स नम्बर 276

फ़ाइल नम्बर 129, बॉक्स नम्बर 401

क्षेत्रीय अभिलेखागार, वाराणसी की फ़ाइलें

फ़ाइल नम्बर 174, बॉक्स नम्बर 57

फ़ाइल नम्बर 48, बॉक्स नम्बर 133

अग्रवाल, *अनिल, द फर्स्ट सिटीजन रिपोर्ट,* नयी दिल्ली : सेण्टर फॉर साइंस एण्ड एनवायरेनमेण्ट, 1982

अग्रवाल, वासुदेव शरण, *मार्कण्डेय पुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन,* इलाहाबाद : हिन्दुस्तान एकेडमी, 2010

—*इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ मनु,* वाराणसी : पृथ्वी प्रकाशन, 1998

—*कालिदास कृत मेघदूत :* एक अध्ययन, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2020

—*गुप्ता आर्ट : अ हिस्ट्री ऑफ़ आर्ट इन गुप्ता पीरियड,* वाराणसी : पृथ्वी प्रकाशन, 1997।

—*पाणिनिकालीन भारतवर्ष,* वाराणसी : चौखम्बा विद्याभवन, 2014

— *भारत सावित्री,* नयी दिल्ली : सस्ता साहित्य मण्डल, 2001

—*स्टडीज इन इण्डियन आर्ट,* वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1995

अप्पादुरै, अर्जुन, *मॉडर्निटी एट लार्ज* : कल्चरल डाइमेंशन ऑफ़ ग्लोबलाइजेशन, कलकत्ता : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1997

अमर सिंह का अमरकोश, सम्पादक : मन्नालाल अभिमन्यु, वाराणसी : चौखम्भा विद्याभवन, 1995

अमृत, सुनील, *अनरुली वाटर : हाउ माउंटेन्स, रिवर्स एण्ड मानसून*

शेप्ड साउथ एशिया 'ज हिस्ट्री, भारत : पेंगुइन रेंडम हाउस, 2018

अल्तेकर, ए.एस., *एजुकेशन इन एंशियंट इण्डिया*, दिल्ली : ईशा बुक्स, 2010

आल्चिन, रेमण्ड और ब्रिज़ेट, *द राइज ऑफ़ सिविलाइजेशन* कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1982

आसिफ़, मनान अहमद, *द लॉस ऑफ़ हिन्दुस्तान : द इन्वेंशन ऑफ़ इण्डिया*, कैम्ब्रिज : हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2020

उत्तर प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, इलाहाबाद ज़िला, इलाहाबाद : गवर्नमेण्ट प्रेस, उत्तर प्रदेश सरकार, 1968

ऋग्वेद, विश्वबन्धु आदि (सम्पादक), होशियारपुर : वीवीआरआई, 1963

एशियावत्ती, एंथोनी, *गंगेज वाटर मशीन : डिजाइनिंग न्यू इण्डिया 'ज एंशियंट रिवर*, सैन फ्रांसिस्को : एप्लाइड रिसर्च एण्ड डिजाइन, 2015

ऑलिवेल, पैट्रिक, *धर्मसूत्राज : द लॉ कोड ऑफ़ एंशियंट इण्डिया*, नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999

—*अ संस्कृत डिक्शनरी ऑफ़ लॉ एण्ड स्टेटक्राफ्ट*, दिल्ली : प्राइमस बुक्स 2015

—*किंग गवर्नेस, एण्ड लॉ इन एंशियंट इण्डिया : कौटिल्या 'ज अर्थशास्त्र, अ न्यू एनोटेटेड ट्रांसलेशन*, नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2013

—*द लॉ कोड ऑफ़ मनु*, नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2004

—*द लॉ कोड ऑफ़ विष्णु* : अ क्रिटिकल एडिशन एण्ड एनोटेटड ट्रांसलेशन ऑफ़ विष्णु धर्मशास्त्र दिल्ली : प्राइमस बुक्स, 2018।

—*धर्मा रीडर : क्लासिकल इण्डियन लॉ*, रानीखेत : परमानेण्ट ब्लैक, 2016

ऑस्ट्रम, एलिनर, *गवर्निंग द कॉमन्स : द इवोल्यूशन ऑफ़*

इंस्टिट्यूशन्स फॉर कलेक्टिव ऐक्शन, न्यू यॉर्क : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1990

ओमप्रकाश, *प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास,* नयी दिल्ली : विश्व प्रकाशन, 1999

ओस्तिगार्द, तेर्जे, द *रिलीजियस नाइल : वाटर, रिचुअल एण्ड सोसाइटी सिंस एंशियंट इजिप्ट,* लन्दनः आई. बी. टॉरिस, 2018

कलापुरा, पुरुषोत्तम और जोस, *हाशिये पर खड़े बिहार के निषाद,* पटनाः दानिश बुक्स, दिल्ली एवं जेवियर इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल रिसर्च, 2008

कल्पागम, यू., *रूल बाइ नम्बर्स : गवर्नमेण्टालिटी इन कॉलोनियल इण्डिया,* नयी दिल्ली : ओरियंट ब्लैकस्वान, 2014

कहार, भगवान दास, *''पुराणोक्ति निषाद उत्पत्ति'',* निषाद ज्योति, अक्टूबर 2013 : 14–17

कांगले, आर.पी., द *कौटिल्या'ज अर्थशास्त्र, 3 खण्ड,* नयी दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 1965

काणे, पी. वी., *धर्मशास्त्र का इतिहास,* पाँच भागों में, अनुवाद अर्जुन चौबे काश्यप, लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 1992–2019

कार्लसन, बेंग्त, *''इंडीजेनस नेचर : फॉरेस्ट एण्ड कम्युनिटी डायनामिक्स इन मेघालय, नॉर्थ–ईस्ट इण्डिया'', इकोलॉजिकल नेशनलिज़्म : नेचर, लाइवलीहुड, एण्ड आइडेंटिटीज़ इन साउथ एशिया ,* गुनेल और के शिवरामकृष्णन सेडरलॉफ़, 170–198, रानीखेत : परमानेंट ब्लैक, 2006

कोठारी, आशीष, प्लूरिवर्स : *अ पोस्ट–डेवलेपमेण्ट डिक्शनरी,* नयी दिल्लीः तूलिका बुक्स, 2019

कोसम्बी, दामोदर धर्मानन्द, *कंबाइंड मेथड इन इण्डोलॉजी एण्ड अदर राइटिंग्स :* कम्पाइल्ड, इडिटेड एण्ड इंट्रोड्यूस्ड बाई ब्रजदुलाल चट्टोपाध्याय, नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2002

कोह्न, बर्नार्ड, *एन एंथ्रोपोलोजिस्ट अमंग द हिस्टोरियंस एण्ड अदर*

एसेज, नयी दिल्ली: ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1987

क्रैबट्री, जेम्स, द *बिलीनेयर राज : अ जर्नी थ्रू इण्डिया 'ज न्यू गिल्डेड एज,* नोएडा : हार्पर कोलिंस, 2018

गंगा लहरी—पद्माकर कृत, काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, n.d.

गंगा-अंक : कल्याण, गोरखपुर : गीता प्रेस, 2016

गंगालहरी—पण्डित जगन्नाथ कृत, इण्डिका बुक्स : वाराणसी, 2007

गुहा, रामचन्द्र, *हाउ मच शुड अ पर्सन कंज़्यूम : थिंकिंग थ्रू द इनवायरेनमेण्ट,* रानीखेत : परमानेंट ब्लैक, 2008

— *एनवायरेनमेण्टालिज़्म* : अ ग्लोबल हिस्ट्री. गुड़गाँव : एलेन लेन, 2014

— द *अन्क्वाइट वुड्स* : इकोलोजिकल चेंज एण्ड पीजेंट रेजिस्टेंस इन द हिमालया 'ज, रानीखेत : परमानेंट ब्लैक, 2010

— *हाउ मच शुड अ पर्सन कनज़्यूम* : थिंकिंग थ्रू द इनवायरेनमेण्ट, रानीखेत : परमानेंट ब्लैक, 2008

गुहा, सुमित, *एनवायरेनमेण्ट एण्ड एथ्नीसिटी इन इण्डिया : 1200–1991,* कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस : कैंब्रिज, 1999

गृह्य सूत्राज, अनुवाद : हर्मन ओल्डेनबर्ग, भाग 2, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, तिथिविहीन

गृह्य सूत्राज : गोभिल, हिरण्यकेशी, आपस्तम्ब, आपस्तम्ब यज्ञ प्रभाष सूत्र, सम्पादक : एफ़, मैक्स म्यूलर, दिल्ली: मोतीलाल बनरसीदास, 1989

ग्राम्शी, एंतोनियो, *सेलेक्शन फ्रॉम कल्चरल राइटिंग्स : डेविड फोरगैक्स और ज्योफ्री नॉवल स्मिथ (सम्पादक),* शिकागो : हेमार्केट बुक्स, 2012

ग्रीट्ज, क्लिफर्ड, द *इम्प्रेशन ऑफ़ कल्चर,* न्यू यार्क : बेसिक बुक्स, 1973

घोष, अमिताव, द *ग्रेट डिरेंज़मेण्ट : क्लाइमेट चेंज एण्ड अनथिंकेबुल,* गुड़गाँव : पेंगुइन रेंडम हाउस, 2016

घोषाल, उपेन्द्रनाथ, *हिन्दू राजस्व व्यवस्था का इतिहास,* नयी दिल्ली : ग्रन्थ शिल्पी, 1997

चक्रवर्ती, दीपेश, द *क्राइसिस ऑफ़ सिविलाइज़ेशन : एक्सप्लोरिंग ग्लोबल एण्ड प्लेनेटरी हिस्ट्रीज,* नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2018

—द *क्लाइमेट ऑफ हिस्ट्री इन अ प्लेनेट्री एज,* दिल्ली : प्राइमस बुक्स, 2021।

चक्रवर्ती, रणवीर, *भारतीय इतिहास का आदिकाल,* हैदराबाद : ओरियंट ब्लैकस्वान, 2012

चटर्जी, पार्थ, *आई एम द पीपल : रिफलेक्शंस ऑन पॉप्युलर सोवरेनिटी टुडे,* रानीखेत : परमानेंट ब्लैक, 2020

—द *पॉलिटिक्स ऑफ़ द गवर्न्ड : रिफलेक्शन ऑन द पॉप्युलर पॉलिटिक्स इन द मोस्ट ऑफ़ द वर्ल्ड,* न्यू यॉर्क : कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, 2004

चट्टोपाध्याय, बी. डी., *अ सोशल हिस्ट्री ऑफ़ अर्ली इण्डिया,* सम्पादक, दिल्ली : पियर्सन लांगमैन, 2009

चट्टोपाध्याय, बी. डी., द *कांसेप्ट ऑफ़ भारतवर्ष एण्ड अदर एसेज,* रानीखेत : परमानेंट ब्लैक, 2017

चानना, देवराज, *प्राचीन भारत में दास प्रथा–पालि और संस्कृत पुस्तकों के अनुसार,* दिल्ली : हिन्दी माध्यम कार्यान्यव निदेशालय, 2009

चौधरी, अविनाश, *निषाद समाज और भारतीय संस्कृति,* इलाहाबाद, 2008

चौधरी, प्रसन्न कुमार, *अतिक्रमण की अन्तर्यात्रा : ज्ञान की समीक्षा का एक प्रयास,* नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2015

जॉन आर. मैकनिल, *इनवायरेनमेण्टल हिस्ट्री : एज इफ नेचर इक्ज़िस्टेड,* नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2010

जैकोबी, कार्ल, *क्राइम अगेंस्ट नेचर : स्क्वाटर्स, पोचर्स, थीव्स एण्ड*

द हिडेन हिस्ट्री ऑफ़ अमेरिकन कंजर्वेशन, बर्कले : यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलीफोर्निया प्रेस, 2001

जोअल, निकोलस, ''*लर्निंग द यूज आफ सिंबोलिक मींस : दलित्स, अम्बेडकर स्टैच्यूज एण्ड द स्टेट इन उत्तर प्रदेश*'', कंट्रीब्यूशन टू इण्डियन सोशियोलॉजी, अंक 40, 2006 : 175–207

ज्ञानेन्द्रपति, *गंगाबीती*, सेतु प्रकाशन : दिल्ली, 2019

झा, विवेकानन्द, ''*फ्रॉम ट्राइब टू अनटचेबुल : द केस ऑफ़ निषाद्स*, इण्डियन सोसाइटी'', हिस्टोरीकल प्रोबिंग्स इन मेमोरी ऑफ़ डी.डी. कोसम्बी, राम शरण शर्मा और विवेकानन्द झा, नयी दिल्ली : पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, 1977

झा, विवेकानन्द, ''*वर्णसंकर इन द धर्मसूत्राज : थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस*'', जर्नल ऑफ़ द इकोनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ़ द ओरियंट, वाल्यूम 13, 3, 1970 : 273–288

ट्राटमैन, थॉमस आर., *एलिफैंट एण्ड किंग्स : एन एनवायरेनमेण्टल हिस्ट्री*, रानीखेत : परमानेंट ब्लैक, 2015

डर्क्स, निकोलस, *कास्ट्स ऑफ़ माइंड : कॉलोनीयलिज़्म एण्ड द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न इण्डिया*, रानीखेत : परमानेंट ब्लैक, 2003

डेरियन, स्टीवन जी., द *गंगेज इन मिथ एण्ड हिस्ट्री*, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 2010।

डेविड्स, टी.डब्ल्यू.रीज, द *क्वेश्चन ऑफ किंग मिलिंद* (पाली से अनुवाद), भाग 2, दिल्ली : मोतीलाल बनारसी दास, तिथि विहीन

डोरोन, अस्सा, *लाइफ़ ऑन द गंगा : बोटमैन एण्ड द रिचुअल इकोनोमी ऑफ़ बनारस*, नयी दिल्ली : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 2013

अस्सा डोरोन आदि, *एन एंथोलोजी ऑफ़ द राइटिंग्स आन द गंगा : गॉडेस एण्ड रिवर इन हिस्ट्री*, कल्चर एण्ड सोसाइटी, नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2015।

तिवारी, रामनारायण, *भोजपुरी श्रम लोकगीतों में जंतसार*, कोलकाता : प्रतिश्रुति प्रकाशन, 2013

तिवारी-जस्सल, स्मिता, *''कास्ट एण्ड द कालोनियल स्टेट : मल्लाह इन सेंसस''*, कंट्रीब्यूशंस टू इण्डियन सोशियोलाजी, 2001

तुलसीदास, *कवितावली,* इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2014

—*रामचरितमानस,* गोरखपुर : गीता प्रेस, सटीक मंझला साइज, तिथिविहीन।

तेलतुंबडे, आनन्द, *भीमराव रामजी अम्बेडकर भारत और साम्यवाद,* नयी दिल्ली : लेफ्टवर्ड, 2020

त्रिपाठी, राधावल्लभ, *संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास,* वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2010

थापर, रोमिला, *अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन,* दिल्ली : ग्रन्थ शिल्पी, 2014

—*पास्ट बिफोर अस : हिस्टोरीकल ट्रेडिशंस ऑफ़ अर्ली नॉर्थ इण्डिया,* रानीखेत : परमानेंट ब्लैक, 2013

—*प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास,* नयी दिल्ली : ग्रन्थ शिल्पी, 2001

दत्ता, सायंतोनी, *दामुदा : सैक्रेड वाटर–नैरेटिव्स ऑफ़ एनवायरमेण्टल लॉस एण्ड कान्फ्लिक्ट इन द अपर एण्ड मिडिल दामोदर रिवर बेसिन,* शिमला : इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडी, 2017

दारूवाला, केकी, *क्रासिंग द रिवर्स,* दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1976

दुबे, दयाशंकर, *पुराणों में गंगा,* इलाहाबाद : हिन्दी साहित्य सम्मलेन, 2017।

देरिदा, जैक्स, *ऑफ़ ग्रेमोटोलॉजी,* अनुवाद : गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक, जॉन हापकिंस यूनिवर्सिटी, 1976

देवी, जी. एन., *द क्राइसिस विदिन : नॉलेज एण्ड एजुकेशन इन इण्डिया,* नयी दिल्ली : अलेफ़ बुक्स, 2017

—*पेंटेड वर्ड्स : एन एंथोलॉजी ऑफ़ ट्राइबल लिटरेचर,* सम्पादक, वडोदरा : पूर्वा प्रकाशन, 2002

नागराज, डी. आर., *द फ्लेमिंग फीट एण्ड अदर एसेज : द दलित मूवमेण्ट इन इण्डिया,* रानीखेत : परमानेंट ब्लैक, 2010

नाथ, प्रत्यय, *क्लाइमेट ऑफ़ कांक्वेस्ट : वार, एनवायरेनमेण्ट, एण्ड एम्पायर इन मुगल नॉर्थ इण्डिया,* नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2019

नारायण, बद्री, *उपेक्षित समुदायों का आत्म इतिहास,* वाणी प्रकाशन : नयी दिल्ली, 2006

—खण्डित आख्यान : *भारतीय जनतन्त्र में अदृश्य लोग, नयी दिल्ली :* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2018

नारायण, बद्री और अर्चना सिंह, *सोशल इम्पैक्ट असेस्मेण्ट स्टडी फॉर प्रपोज्ड प्रोटेक्शन ऑफ़ एक्वाटिक फ्लोरा एण्ड फॉना : अ स्टडी टू सेट अप टर्टल सेंक्चुअरी इन गंगा रिवर डाउनस्ट्रीम ऑफ़ प्रयागराज,* प्रयागराज : गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान, n.d.

निगम, संजय, *"डिसिप्लिनिंग एण्ड पोलिसिंग द क्रिमिनल बाइ बर्थ, भाग-1,* द मेकिंग ऑफ़ अ कॉलोनियल स्टी रियोटाइप—द क्रिमिनल ट्राइब्ज एण्ड कास्ट्स ऑफ़ नॉर्थ इण्डिया", इण्डियन इकोनॉमिक एण्ड सोशल हिस्ट्री रिव्यू, 27, 2, 1990 : 257–287

—*"डिसिप्लिनिंग एण्ड पोलिसिंग द क्रिमिनल बाइ बर्थ, भाग-2,* द डेवलेपमेण्ट ऑफ़ डिसिप्लिनरी सिस्टम, 1871–1900– द क्रिमिनल ट्राइब्ज एण्ड कास्ट्स ऑफ़ नॉर्थ इण्डिया", इण्डियन इकोनॉमिक एण्ड सोशल हिस्ट्री रिव्यू, 27, 3, 1990

"*निषाद ज्योति,* हिन्दी मासिक", गाजीपुर : चौधरी लौटनराम, 2000 से 2014 तक।

न्यूबी, एरिक, *स्लोली डाउन्स द गैंगेज़,* लन्दन : पिकाडोर, 1983

पाठक, वी. एस., *स्मार्त रिलीजियस ट्रेडिशन,* मेरठ : कुसुमांजलि प्रकाशन, 1994

पाठक, शेखर, *हरी भरी उम्मीद : चिपको आन्दोलन और अन्य*

जंगलात प्रतिरोधों की परम्परा, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2019

पाण्डेय, सुधाकर, *पद्माकर कृत गंगा लहरी,* काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, 1983

पाराशर-सेन, आलोका, *"नेमिंग एण्ड सोशल एक्सक्लयुजन : द आउटकास्ट एण्ड द आउटसाइडर",* बिटवीन द एम्पायर्स : सोसाइटी इन इण्डिया 300 बीसीई टू 400 सीई, पैट्रिक ऑलिवेल, 415-55, नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2006

—*सबार्डिनेट एण्ड मार्जिनल ग्रुप्स इन अर्ली इण्डिया,* नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2004

पैरी, जोनाथन, *डेथ इन बनारस,* नयी दिल्ली : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1994

पोलॉक, शेल्डन, *द रामायण ऑफ़ वाल्मीकि : एन एपिक ऑफ़ एंशियेंट इण्डिया,* वाल्यूम-2, अयोध्याकाण्ड, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, 2017

—*द लैंग्वेज ऑफ़ द गॉड्स इन द वर्ल्ड ऑफ़ द मेन,* दिल्ली : परमानेंट ब्लैक, 2006

फिलिप क्युलेट, *वाटर गवर्नेंस इन मोशन : टुवर्ड्स सोशली एण्ड एनवायरेनमेण्टली सस्टेनेबल वाटर लॉ,* बेंगलोर : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 2010

फ़िशर, एफ.एच. और जे. पी. हीवेट, *स्टेटिस्टिकल, डिस्क्रिपटिव एण्ड हिस्टोरीकल एकाउण्ट ऑफ़ नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविंसेज,* इलाहाबाद : नॉर्थ वेस्टर्न प्रोविंसेज एण्ड अवध गवर्नमेण्ट प्रेस, 1884

फेल्डहॉउस, अन, *नदी आणि स्त्रीत्व,* अनुवाद विजया देव, पुणे : पद्मगन्धा प्रकाशन, 2014

टू ओरल नैरेटिव्स फ्राम द कण्ट्रीसाइड ऑफ़ द महाराष्ट्र, दिल्ली, प्राइमस बुक्स, 2015

बंद्योपाध्याय, माणिक, *द बोटमैन ऑफ़ पद्मा,* अनुवाद रतन के चट्टोपाध्याय, नयी दिल्ली : ओरियंट ब्लैकस्वान, 2012

बाविस्कर, अमिता, *इन द बेली ऑफ़ द रिवर : ट्राइबल कॉन्फ्लिक्ट ओवर डेवलेपमेण्ट इन द नर्मदा वैली,* नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2004

ब्रायंत, केनेथ, *सूर'स ओशन : प्वायम्स फ्रॉम द अर्ली ट्रेडिशन* (अनुवाद : जे. एस. हॉली), भारत : मूर्ति क्लासिकल लाइब्रेरी ऑफ़ इण्डिया, 2015

ब्रेमन, इयान, *ऑन पॉपरिज्म : इन प्रजेंट एण्ड पास्ट,* नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2016

ब्रोदेल, फ़र्नांद, *मेमोरी एण्ड मेडिटेरियन,* यू.एस.ए. : विंटेज बुक्स, 2002

ब्रोदेल, फ़र्नांद, *ऑन हिस्ट्री,* अनुवाद सराह मैथ्यूज़, शिकागो : शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, 1980

ब्रोनर, यीगल, *साउथ एशियन टेक्स्ट्स इन हिस्ट्री : क्रिटिकल एंगेजमेण्ट विथ शेल्डन पोलॉक,* दिल्ली : प्राइमस बुक्स, 2016

ब्लॉख, मार्क, *हिस्टोरियन्स क्राफ्ट* (अनुवाद : पीटर पुटनाम), न्यू यार्क : मैंचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, 1954

भट्टाचार्य, नीलाद्रि, *द ग्रेट एग्रेरियन कांक्वेस्ट : द कॉलोनियल रिशेपिंग ऑफ़ ए रूरल वर्ल्ड,* रानीखेत : पर्मानेंट ब्लैक, 2019

भट्टाचार्य, सब्यसाची, *द आइडिया ऑफ़ सिविलाइजेशन इन द इण्डियन नेशनलिस्ट डिस्कोर्स,* नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2011

भवभूति का उत्तररामचरितम्, सम्पादक : जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, दिल्ली : मोतीलाल बनारदीदास, 2014

महाभारत : द आरण्यक पर्व, भाग 1, सम्पादक : वी. एस. सुक्थंकर, पूना : भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट, 1992

मारिश ब्लूमफील्ड, सम्पादक, *अथर्ववेद,* सैक्रेड बुक्स ऑफ़ द ईस्ट, नयी दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 1979

मिश्र, अनुपम, *अच्छे विचारों का अकाल,* नयी दिल्ली : भारतीय

ज्ञानपीठ, 2016

—*पर्यावरण के पाठ : साक्षात्कार*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2019

—*साफ़ माथे का समाज*, दिल्ली : पेंगुइन इण्डिया, 2006

मिश्र, विद्यानिवास, *वाचिक कविता : भोजपुरी*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, 2005

मुखर्जी, राधाकुमुद, *चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल*, दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1999

—*हिन्दू सभ्यता*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2004

मेलेट, विक्टर, *रिवर ऑफ़ लाइफ, रिवर ऑफ़ डेथ : द गंगेज एण्ड इण्डिया'ज फ्यूचर*, नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2017

मेहता, जे. एल., *मेडिएवल इण्डिया*, खण्ड 3, नयी दिल्ली : स्टर्लिंग पब्लिशर्स, 1982

मैक्लीन, कामा, *पिल्ग्रिमेज एण्ड पावर : द कुम्भ मेला इन इलाहाबाद–1765 टु 1954*, न्यू यार्क : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2008

मोतीचन्द्र, *काशी का इतिहास : वैदिक काल से अर्वाचीन युग का राजनैतिक–सांस्कृतिक सर्वेक्षण, वाराणसी* : विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2010

यादव, सोनी, *प्राचीन भारत में शिल्पी और कारीगर*, अर्चना पब्लिकेशंस : मेरठ, 2018

योगेन्द्र, सफदर इमाम कादरी, *गंगा को अविरल बहने दो*, भागलपुर : गंगा मुक्ति आन्दोलन, 1990

रंगराजन, महेश, *नेचर विदाउट बार्डर्स*, हैदराबाद : ओरियंट ब्लैकस्वान, 2014

रणजीत गुहा (2009), *स्माल वाइस ऑफ़ हिस्ट्री*, रानीखेत : परमानेंट ब्लैक, 2009

राठौर, आकाश सिंह, *बी.आर. अम्बेडकर : द क्वेस्ट फॉर जस्टिस,* वॉल्यूम 5 (सम्पादक), नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2021

राधाकृष्ण, मीना, *डिसऑनर्ड बाइ हिस्ट्री : 'क्रिमिनल ट्राइब्ज एण्ड ब्रिटिश कॉलोनियल पॉलिसी,* नयी दिल्ली: ओरियंट ब्लैकस्वान, 2001

रामगोपाल, *इण्डिया ऑफ़ वैदिक कल्पसूत्र,* दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 1983

रामायण ऑफ़ वाल्मीकि, बालकाण्ड, अनुवाद : राबर्ट पी. गोल्डमैन, दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984

राय, कुबेरनाथ, *निषाद बाँसुरी,* कोलकाता : प्रतिश्रुति प्रकाशन, 2019

रोज्क्राफ्ट, इमैनुएल जे. ग्रेटा और इवियन, *कंजर्वेशन ऑफ़ नेचुरल रिसोर्सेज : सम अफ्रीकन एक्जाम्पल्स,* त्रोनदिहम : टैपिर अकादमिक प्रेस, 2010

लाल, मक्खन, *सेटलमेण्ट हिस्ट्री एण्ड राइज ऑफ़ सिविलाइजेशन इन गंगा–यमुना दोआब फ्रॉम 1500 बीसी टू 300 एडी.* दिल्ली : बी.आर. पब्लिशिंग कारपोरेशन, 1984

लाहिरी–दत्ता, कुंतल और राबर्ट जे वाटसन, *वाटर फर्स्ट : इश्यूज एण्ड चैलेंजेज फॉर नेशंस एण्ड कम्युनिटीज इन साउथ एशिया,* नयी दिल्ली : सेज, 2008

ल्योसा, मारियो वार्गास, *किस्सागो,* नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2010

विट्सो, जेफ्री, *डेमोक्रेसी अगेंस्ट डेवलपमेण्ट : लोअर कास्ट पालिटिक्स एण्ड पोलिटिकल माडर्निटी इन पोस्ट कॉलोनियल इण्डिया,* शिकागो : शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, 2013

शर्मा, मुकुल, *दलित और प्रकृति : जाति और पर्यावरण आन्दोलन,* नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2020

शर्मा, राम शरण, *इंडिया'ज एंशियंट पास्ट,* नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2015

—*पूर्व मध्यकालीन भारत में सामन्ती समाज और संस्कृति,* नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1996

—*प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवम् संस्थाएँ,* नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1992

—*प्रारम्भिक भारत का परिचय,* ओरियंट लांगमैन : नयी दिल्ली, 2004

—*भारत का प्राचीन इतिहास,* अनुवादक : देवशंकर नवीन एवं धर्मराज कुमार, नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2018

—*शूद्रा'ज इन एंशियंट इण्डिया : अ सोसल हिस्ट्री ऑफ द लोअर ऑर्डर डाउन टू सिर्सा ए.डी. 1200,* दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 2014

शास्त्री, हरिप्रसाद, द *रामायण ऑफ़ वाल्मीकि,* बालकाण्ड-अयोध्याकाण्ड, लन्दनः शांतिसदन, 1962

शाह, अल्पा, *इन द शेडो ऑफ स्टेट,* नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2010

शोभाकान्त, *नागार्जुन रचनावली,* भाग 1, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2003

श्रीमाली, के.एम., द *एज ऑफ़ आयरन एण्ड द रिलिजियस रिवोल्यूशन,* नयी दिल्ली : तूलिका बुक्स, 2007

—*धर्म, समाज और संस्कृति,* नयी दिल्ली: ग्रन्थ शिल्पी, 2006

श्रीवास्तव, शालिग्राम, *प्रयाग प्रदीप,* इलाहाबद : हिन्दुस्तानी एकेडमी, 2016

सचाउ, ई. सी., *अलबेरूनी'ज इण्डिया,* नयी दिल्ली : मुंशीराम मनोहरलाल, 1983

सरकार, सुमित, *माडर्न टाइम्स : 1880–1950,* रानीखेत : पर्मानेंट

ब्लैक, 2014

सांकृत्यायन, राहुल, *बुद्धचर्या : भगवान बुद्ध की जीवनी और उपदेश,* दिल्ली : गौतम बुक सेण्टर, 2010

सादिक़, *मिर्ज़ा गालिब : चिराग़-ए-दैर,* नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2018

साहू, भैरबी प्रसाद, *आयरन एण्ड सोशल चेंज इन अर्ली इण्डिया,* नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2006

—*सोसाइटी एण्ड कल्चर इन पोस्ट मौर्यन इण्डिया : 200 बी.सी.-ए. डी. 300,* नयी दिल्ली : तूलिका बुक्स, 2015

सिंह, उपिन्दर, *अ हिस्ट्री ऑफ़ एंशियंट एण्ड अर्ली मेडिविएल इण्डिया,* नयी दिल्ली : पियर्सन लांगमैन, 2009

—*पॉलिटिकल वाइलेंस इन एंशियंट इण्डिया,* कैम्ब्रिज : हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2017

सिंह, महेन्द्र प्रताप, *वाल्मीकि की पर्यावरण चेतना* : पर्वत एवं नदियाँ, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2016

सिंह, रघुबीर, द *गंगेज,* लन्दन : थेम्स एण्ड हडसन लिमिटेड, 1992

सिंह, रमाशंकर, *''किसे चाहिए संविधान? : भारत के सार्वजनिक जीवन में संविधान की छवियाँ'',* आलोचना, 63, 2020 : 127-36

—*''क्रिमिनलाइज़ेशन एण्ड पॉलिटिकल मोबिलाइज़ेशन ऑफ नोमेडिक ट्राइब्स इन उत्तर प्रदेश'',* इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, 2021। वॉल्यूम 56, अंक 36, 04 सितम्बर

—*''निषाद और उनकी नदी : हक़दारी के सवाल'',* प्रतिमान : समय, समाज, संस्कृति, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन एवं सीएसडीएस, 2017 : 264-280

—*''बंसोड़, बाँस और लोकतन्त्र'',* प्रतिमान : समय, समाज, संस्कृति, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन एवं सीएसडीएस, 2015 : 255-272

—*''भारतीय तीर्थ : सामाजिक एवं आर्थिक सन्दर्भ,* अप्रकाशित

एम.ए. शोध निबन्ध'', फ़ैज़ाबाद, अयोध्या : राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, 2004

सिंह, विद्याविन्दु, *अवधी लोकगीत विरासत*, नयी दिल्ली : ज्ञान विज्ञान एजुकेयर, 2018।

सेडरलॉफ, गुनेल और महेश रंगराजन, सम्पादक, *एट नेचर्स एज : द ग्लोबल प्रेजेंट एण्ड लांग-टर्म हिस्ट्री*, नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2018

स्कॉट, जेम्स, *अगेंस्ट द ग्रेन : अ डीप हिस्ट्री ऑफ़ द अर्लिएस्ट स्टेट*, यू.एस.ए. : न्यू हेवेन एण्ड लंडन, 2017

सुब्रमनिनयन, अजंता, *शोर लाइंस : स्पेस एण्ड राइट्स इन साउथ इण्डिया*, कैलीफोर्निया : स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2013

सेन, अमर्त्य, *होम इन द वर्ल्ड : अ मेम्वायर*, भारत : एलेन लेन, 2021

सेन, सुदीप्त, *गंगा : द मेनी पास्ट्स ऑफ़ अ रिवर*, गुड़गाँव : पेंगुइन रैंडम हाउस, 2019

सैकिया, अरूपज्योति, *अनक्वाइट रिवर : अ बायोग्राफी ऑफ़ द ब्रह्मपुत्र*, नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2019

स्टीनकॉर्न, हेनरिक वॉन, *गंगा एण्ड यमुना : रिवर गॉडेसेस एण्ड देयर सिम्बालिज़्म इन इण्डियन टेम्पेल्स*, रानीखेत : परमानेंट ब्लैक, 2010

स्टेट ऑफ़ इण्डिया 'ज एनवायरेनमेण्ट, नयी दिल्ली : सेण्टर फॉर साइंस एण्ड एनवायरेनमेण्ट, 2020

हास्ट्रप, क्रिस्टेन हास्ट्रप और फ्रीडा, *वाटरवर्ल्ड्स : एंथ्रोपोलोजी इन फ्ल्यूइड इनवायरेनमेण्ट*, न्यू यार्क : बर्गान बुक्स, 2015

हिल्टेब्टेलबर्ग, एल्फ, *धर्म : इट्स अर्ली हिस्ट्री इन लॉ, रिलीजन एण्ड नैरेटिव*, नयी दिल्ली : ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2001

हेबरमन, डेविड एल., *रिवर ऑफ़ लव इन एन एज ऑफ़ पॉल्यूशन : द यमुना रिवर ऑफ़ नॉर्दर्न इण्डिया*, बर्कले : यूनिवर्सिटी ऑफ़ कैलीफोर्निया प्रेस, 2006

हेलिसे, चार्ल्स, *थेरीगाथा–प्वायम्स ऑफ़ द फर्स्ट बुद्धिस्ट नन*, कैम्ब्रिज : मूर्ति क्लासिकल लाइब्रेरी और हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2015

हॉब्सबाम, एरिक जे और टी रेंगर, द *इन्वेन्शन ऑफ़ ट्रेडिशन*, न्यू यॉर्क : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1983

समाचार पत्र

द हिन्दू, दैनिक जागरण, दैनिक हिन्दुस्तान, दैनिक अमर उजाला, द इण्डियन एक्सप्रेस

वेबसाइट

https://www.downtoearth.org.in/hindistory/wildlife-bio-diversity/biodiversity/Earth-in-the-new-era-Present-and-past-73629

https://www.nationalheraldindia.com/india/nehrus-will-let-my-ashes-scatter-over-fields-and-mingle-with-the-dust-and-soil-of-india

https://journals.sagepub.com/doi/abs/10.1177/001946469002700201

http://kumbh.gov.in/en/research-on-kumbh

http://kumbh.gov.in/en/bathing-dates

https://www.gbrmpa.gov.au/our-partners/traditional-owners

https://www.bhadas4media.com/ganga-ko-behne-do/

https://khabar.ndtv.com/topic/%E0%A4%AC%E0%A4%BE%E0%A4%B2%E0%A5%82-%E0%A4%AE%E0%A4%BE%E0%A4%AB%E0%A4%BF%E0%A4%AF%E0%A4%BE

https://www.nationalgeographic.com/environ-

ment/2019/06/inside-india-sand-mining-mafia/

https://www.livehindustan.com/uttar-pradesh/ganga-par/story-mining-of-illegal-sand-from-jcb-in-kanjasa-2540677.html http://www.allahabadhighcourt.in/apps/status/index.php/case-number

https://www.downtoearth.org.in/news/water/why-does-kosi-river-cause-devastating-floods-so-often-answer-lies-in-massive-siltation-study-60014

https://www.livehindustan.com/lok-sabha-election/story-lok-sabha-elections-2019-namgy-gange-has-become-unremitting-and-unreliable-ganga-yogi-2462109.html

https://www.nationalheraldindia.com/india/nehrus-will-let-my-ashes-scatter-over-fields-and-mingle-with-the-dust-and-soil-of-india

http://vikalpsangam.org/article/speaking-river-speaking-rain/#.X-S7CdJKjIV

https://www.downtoearth.org.in/hindistory/pollution/plastic/plastic-pollution-in-ganga-tag-bottles-up-to-2854-km-in-94-days-in-total-in-river-74526?fbclid=IwAR30ReKVtRlRcCziIyRqoD-bwPcj3Obgd5TCMMQ7Z5NCBaNviVvUPAcaQqc

https://www.theguardian.com/books/2006/feb/11/features-reviews.guardianreview25?fbclid=IwAR23Xx0On0vlYwdsvEGmX8IRb3hhD2P3h1S4D4s41xMcJ7Oe2MpGJu5UafE

अनुक्रमणिका



रमाशंकर सिंह

1 जुलाई 1981 को गोण्डा में जन्मे रमाशंकर सिंह ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान, झूसी, प्रयागराज से डी.फिल. (2017) की उपाधि प्राप्त की है। वे भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में फेलो रहे हैं (2018–2020)। निषादों, बाँस पर आश्रित जातियों, घुमन्तू एवं विमुक्त समुदायों के इतिहास, भाषा, संस्कृति, राजनीति और जीवन–बोध पर उनके लेख 'ईपीडब्ल्यू', 'आलोचना', 'प्रतिमान' और 'नया पथ' में प्रकाशित हैं। उनके दर्जनों लेख विभिन्न विद्वानों द्वारा सम्पादित किताबों और ज्ञानकोशों में प्रकाशित हुए हैं। उन्होंने पीपुल्स लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया के उत्तर प्रदेश खण्ड के लिए लेखन, अनुवाद और सम्पादन का काम किया है।

जवाहरलाल नेहरू के सांस्कृतिक विचारों को केन्द्र में रखकर उन्होंने एक किताब का सम्पादन किया है जो शीघ्र प्रकाश्य है। इस समय वे उत्तर प्रदेश के घुमन्तू एवं विमुक्त समुदायों से सम्बन्धित अपने काम को अन्तिम रूप देने के साथ ही साथ 'एन्थ्रोपोसीन और समाज विज्ञान का भविष्य' पर एक अन्य किताब की तैयारी में व्यस्त हैं।

रमाशंकर सिंह की यह किताब स्रोतों की व्याख्या और शोधविधि के लिहाज से इतिहास लेखन में एक हस्तक्षेप है। इसमें पाठ (टैक्स्ट), मानवविज्ञान और अभिलेखीय सामग्री का मोहक समन्वय है। नदियों और उनकी सन्तानों की दास्तान कहते समय लेखक ने लगातार समकालीन मानवीय अनुभव को ऐतिहासिक बदलाव की रोशनी में देखा है। यह इस विषय पर समग्र इतिहास की किताब है।

—शेखर पाठक
इतिहासकार और
हिमालय के यात्री

शोध के गहन बुनाव एवं प्रखर विश्लेषणात्मक क्षमता से उपजी है यह पुस्तक। वर्षों के गहन अध्ययन से आकार लेकर यह पुस्तक भारतीय समाज के सीमान्त की आवाजों को मुखरित करने की एक वृहत् सामाजिक और अकादमिक परियोजना का हिस्सा बनकर उभरी है। इतिहास एवं नृतात्त्विक अन्तःदृष्टि का संतुलित समन्वय इसमें देखा जा सकता है। इसमें नदी एवं समुदाय दोनों ही ऐसे सामाजिक पाठ के रूप में विश्लेषित होते चलते हैं जिससे भारतीय समाज के अन्तःतत्त्व को समझने में पाठकों को सुविधा होती है। इसे—छात्र, बौद्धिक, अकादमिक और राजनीतिक कार्यकर्ता—सबको पढ़ना चाहिए।

—बद्री नारायण
इतिहासकार और मानवविज्ञानी

सेतु प्रकाशन
www.setuprakashan.com
कथेतर इतिहास पर्यावरण अध्ययन
9 789392 228186